हिन्दी नाटक की रूपरेखा

लेखक
प्रो० दशरथ झा
एवं
प्रो० गुरुप्रसाद कपूर एम० ए०

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली–६ : : पटना–४

अपनी बातें

नाटक संस्कृत-साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। उसके अमन्द आलोक का प्रतिविम्व सभी भाषाओं में देखा जा सकता है। ब्रह्मा ने जिस मनोरंजन के हेतु इसकी सृष्टि की थी उसे सभी भाषा के नाटककारों ने अपनी-अपनी भाषा में प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। अपेक्षाकृत संस्कृत में नाटक अन्य भाषाओं से अपने युग में अधिक लिख गए।

संस्कृत की इसी अविरल परम्परा का पुनरुद्धार हिन्दी ने किया। हिन्दी में गद्य अभाव के कारण यह कार्य आधुनिक-युग से पूर्व विशेष रूप से सम्भव न हो सका। फिर तो अनुवाद, छायानुवाद, भावानुवाद या रूपान्तरित रचनाओं ने मौलिक नाटक लिखने के लिए वाध्य किया। वास्तव में नाटक का सुन्दर रूप हमें भारतेन्दु युग में दृष्टिगत होता है। उसका विकास प्रसाद काल तक हो गया था।

प्रस्तुत पुस्तक में नाटक के रूप और उसके रूपं पर आकर्षित होकर जिन नाटककारों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार रेखाएँ खींची हैं उन सब पर प्रसंगानुकूल विचार किया है। प्रथम अध्याय में नाटक के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसमें नाटक और साहित्य का पारस्परिक सम्वन्ध, उत्पत्ति, 'काव्येषु नाटकं-रम्यम्', वर्जनाएँ, नाटक और उपन्यास में अन्तर, उसके अभाव के कारण आदि विविध विषयों का चयन हो सका है। वस्तुतः यह नाटक के साहित्यिक रूप पर अधिक प्रकाश डालता है। इसीलिए इसे 'नाटक और साहित्य' के नाम से अभिहित किया गया है। द्वितीय अध्याय में भारतेन्दु युगीन सामग्री की आलोचना करते समय भारतेन्दु पर विशेष रूप से हमारा ध्यान केन्द्रित रहा है। संक्षेप में युगीन विशेषताएँ भी उपस्थित की हैं। तृतीय अध्याय संधिकाल है जिसका महत्त्व अपने नाम से किंचित भी कम नहीं है। चतुर्थ अध्याय में विभिन्न रंगमंचों की सीमाओं को दिखाकर पारसी-रंगमंच की प्रभुसत्ता स्वीकार की गई है। पंचम अध्याय विशेष रूप से प्रसाद जी पर पृथक् से लिखा गया है। उनका व्यक्तित्व इतना सवल और वहुमुखी था कि ऐसा करना स्वाभाविक ही था। फिर भी युगीन अन्य साहित्य पर तुलनात्मक दृष्टि-कोण से विचार किया है। षष्ठ अध्याय समस्या नाटक की समस्या को सुलझाने में शायद सफल हो सकें। सप्तम अध्याय में एकांकी विषयक सामग्री का चयन बड़े सुचारू रूप से रखा गया है। इसके अनन्तर 'उपसंहार' शीर्षक से एक और अध्याय है

जिसमें संक्षेप से गद्य को नाटक का क्या योगदान प्राप्त हुआ तथा नाटक के भविष्य को रखा गया है।

विद्यार्थियों की सुविधा के लिए परिशिष्ट—१ में सम्पूर्ण नाटक का सार है। इसी बात को चार्ट रूप में परिशिष्ट—२ के अन्तर्गत रखा है। नाटक संबन्धी विविध पुस्तकों की सूची एक स्थल पर एकत्र करके परिशिष्ट—३ में दिखाई है। नाटक पर यूँ तो अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं किन्तु वे इसके स्वरूप और उद्देश्य से भिन्न हैं। प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता विद्यार्थी वर्ग की अनुकूल रुचि है जिस पर लेखक का सदैव ध्यान रहा है। यदि मेरा कुछ भी श्रम विद्यार्थियों के लिए सहायक सिद्ध होता है तो मै उसे अपना सौभाग्य समझूँगा।

मैं उन सभी लेखको के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी सामग्री प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक रही है। मुझे अपने सहयोगी मित्र श्री देवेन्द्र कुमार एम० ए०, श्री रमेश गुप्त एम० ए० तथा श्री प्राणनाथ एम० ए० का भी सहयोग मिलता रहा जिनका मै हृदय से आभारी हूँ।

दीपावली
२८-१०-१९६२ } गुरुप्रसाद कपूर

विषय-सूची

: १ :

साहित्य और नाटक

साहित्य की रूपरेखा

संसार की कुछ वस्तुओं के प्रति मानव का आकर्षण, कुछ के प्रति विकर्षण स्वाभाविक है। आकर्षण से विकर्षण हो या विकर्षण से आकर्षण यह अपनी-अपनी रुचि और प्रभावजन्यता पर निर्भर करता है। स्वभावतः वस्तु के प्रति मानव का लगाव होता है, परन्तु परिस्थितियों के वश उसको पाने में असमर्थ होने की दशा में उसके मन में अनेक भावनाओं का उन्नयन होता है। इन्हीं भावनाओं को शाब्दिक रूप में प्रकट करने की उसकी अभिलाषा रहती है। कहने का तात्पर्य है कि आत्मानुभव चाहे वह हर्ष का हो या विषाद का, निःसंकोच और बिना किसी विशेष प्रयास के अभिव्यक्त होने के लिए आकुल हो उठता है। 'मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति में ही उसकी सामाजिकता का मूल है।' यही साहित्य की जननी, साहित्य की शाब्दिक व्युत्पत्ति "साहित्यस्य भावः साहित्यं" है। अनेक विद्वानों ने इसकी व्याख्या विभिन्न रूप से की है। प्रायः सहित शब्द के विभिन्न अर्थ प्रस्तुत कर उनमें वैभिन्य दर्शाया गया है। जैसे—(१) सहित अर्थात् साथ होना, (२) सहित-हितेन सह सहितं—अर्थात् जो हितकारी हो। वास्तव में इन विचारों में तात्विक कोई भेद नहीं है। अतः जो रचना मानव हित के दृष्टिकोण से लिखी गई है वही साहित्य है। साहित्य व्यापक अर्थ में वाङ्मय का और संकुचित अर्थ में काव्य का रूढ़ अर्थ देने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में साहित्य व्यापक अर्थ में ऐसी शाब्दिक रचना मात्र है जो हित या प्रयोजन से युक्त होता है और संकुचित अर्थ में भावनामय-साहित्य जिसे काव्य कहा है। इस तरह व्यापक अर्थ में साहित्य के दो भेद हो जाते है—(१) काव्य और (२) शास्त्र। एक रसात्मक है तो दूसरा ज्ञानपरक। अंग्रेजी साहित्य में भी साहित्य के दो भेद इसी तरह किए गए है। डिक्विंसी (De Quincy) ने शास्त्र को Literature of Knowledge और काव्य को Literature of Power कहा है। इन दोनों की विशेषता को भी उन्होंने दर्शाने का यत्न निम्नलिखित शब्दों में किया है—"The function of the first is to teach; the function of the second is to move." अर्थात् प्रथम का कार्य सिखाना है तो दूसरे का प्रभावित करना।

साहित्य सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया होने के कारण ही समाज का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक संस्कृति की रक्षा मानव द्वारा रचित साहित्य

के द्वारा ही होती है। इसी के द्वारा वर्तमानकाल की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं। निःसन्देह साहित्य वर्तमान और भूत को अपने में समेटे हुए भविष्य का चित्र विचित्र कर मानव मन का प्रसादन करता है। रामायण और महाभारत आदि सत् साहित्य से केवल अतीत काल का ज्ञान ही प्राप्त नही होता वरन् वर्तमान की समस्या भी हल होती है और साथ-साथ भविष्य का संकेत भी उनसे मिलता है। हम कह सकते हैं कि साहित्य का विकास और ह्रास जीवन के विकास और ह्रास का वास्तव में चित्र है। अतः साहित्यिक विकास के लिए सामाजिक विकास का होना नितान्त आवश्यक है। इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है।

नाटक

नाटक साहित्य का एक प्रमुख अंग है। सस्कृत में दृश्य काव्य के दश रूपकों में से नाटक एक प्रधान रूप है। किन्तु हिन्दी में रूपक का पर्यायवाचक नाटक है। साहित्य के अन्य अंगो के समान ही नाटक साहित्य की भी अपनी विशेपताएँ हैं। नाटक की उत्पत्ति के विषय में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में ब्रह्मा के द्वारा चारों वेदों में नाट्य सामग्रियों को लेकर (ऋग्वेद से संवाद, साम्वेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस) पंचम नाट्यवेद की रचना की थी। भरतमुनि ने नाटक के प्रदर्शन तथा अभिनय के लिए रंगमंच, रगपीठी और प्रेक्षागृह का भी अपने नाट्य-शास्त्र में सुचारु एवं विस्तार में विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त नाटक के प्रमुख तत्वो पर भी प्रकाश डाला गया है।

नाट्य साहित्य में एक विशेषता यह है कि जहाँ काव्य है वहाँ वह अभिनेय भी है। वास्तव में नाटक साहित्य की महत्ता का एकमात्र कारण उसकी अभिनेयता को है। निःसन्देह यही अभिनेयता नाटक को अन्य काव्य से पृथक करती है। हम कह सकते है कि अभिनय नाटक का आवश्यक अंग है। नाटक की सार्थकता अभिनय में ही है।

प्राचीन नाटकाचार्यो ने नाटक के तीन अंग माने हैं—१. कथावस्तु, २. पात्र और ३. रस। वास्तव में नाटक के प्रमुख छः अंग होते हैं—१. चरित्र-चित्रण, २. कथावस्तु, ३. रस, ४. कथोपकथन, ५. वातावरण और ६. उद्देश्य। प्रत्येक के विषय में संक्षेप से यहाँ निर्देश किया गया है।

चरित्र-चित्रण—चरित्रों के दो स्वरूप होते हैं,—एक आन्तरिक और दूसरा वाह्य। नाटकों में लेखकों को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अवकाश नहीं मिलता। अतः इन दोनों चित्रों का प्रकाशन सफल नाटककार वडी कुशलता से करता हैं। इसके अनेक माध्यम हैं—जैसे (१) उपयुक्त अवसर पर पात्र की मनो-

वृत्तियों का प्रकाशन (२) अन्य पात्रों से उनके चरित्र के विषय में वार्तालाप प्रस्तुत करना (३) पात्र के क्रियाकलापों से (४) स्वगत भाषण आदि।

कथावस्तु—कथावस्तु के तीन रूप हो सकते हैं—(१) ऐतिहासिक, २. काल्पनिक और (३) मिश्रित। किसी भी नाटक में दो प्रकार की कथाएँ होती हैं एक तो प्रमुख और दूसरी गौण। गौण कथाएँ भी प्रमुख की सहायक होती हैं जो उसे फलागम की ओर ले जाती हैं।

रस—रस नाटक का प्रमुख अंग है। भरत के नाट्य शास्त्र में दुखान्त नाटकों को वर्जित माना गया है। अतः दुखान्त नाटक हमारे मन का प्रसादन न करके रस या आनन्द के द्योतक होते है। किन्तु आज के विद्वान इस मत के विरोधी हैं। अरस्तु ने इस मत का खण्डन बड़े सबल शब्दों में किया है। अतः रस प्रमुख अंग है।

कथोपकथन—कथोपकथन के आधार पर ही नाटक के पात्रों का चित्रांकन किया जाता है और इसी के आधार पर नाटक की कथा फलागमोन्मुखी होती है। अतः यह भी एक आवश्यक अंग माना जाता है।

वातावरण—नाट्याचार्यों ने इसे भी प्रधानता देने का यत्न किया है। वास्तव में यह अंग कथावस्तु का सहायक है, अर्थात् जिस काल की कथा है उसी काल का वातावरण प्रस्तुत करने से नाटक में यथार्थता तथा प्रभावोत्पादकता का समावेश हो जाता हैं।

उद्देश्य या फलागम—प्रत्येक घटना का उद्देश्य होता है। दूसरे शब्दों में नाटक का प्रमुख नायक फल का भोक्ता माना जाता है। यह नाटक की अन्तिम अवस्था होती है।

यह बताते हुए हमें गर्व होता है कि हिन्दी साहित्य को इस क्षेत्र में संस्कृत साहित्य से प्रेरणा मिली है। वर्तमान युग में अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भी उस पर पूर्ण रूप से पड़ा है। पूर्वी और पश्चिमी साहित्य के दृष्टिकोण में केवल जीवन के प्रति भेद मिलता है। जहाँ हमारे नाटकों मे आशावाद और आदर्शवाद की अभिव्यंजना प्रमुख रूप से हुई है वहाँ उनके यहाँ यथार्थवाद की विशेषता लक्षित होती है। यह होना स्वाभाविक है क्योंकि हमारा जीवन सदा से ऐसा ही रहा है। अतः उसी के अनुरूप साहित्य भी उपलब्ध होता है।

वर्तमान युग के नाटकों में जीवन की दुखान्तवादिता और जटिल यथार्थता आदि पश्चिम की देन हैं। इन्हीं तत्वों को दृष्टि में रखकर नाटकों का वर्गीकरण किया गया है।

भारतीय मनोरंजन

देशकाल के अनुसार मनोरंजन के साधन में अन्तर होना स्वाभाविक है। शिक्षित नागरिकों और अशिक्षित ग्रामीणों के मनोरंजन के साधन भिन्न-भिन्न होते हैं। वास्तव मे मनोरंजन देश की संस्कृति, वातावरण और रुचि पर विशेषकर निर्भर होता है। यही कारण है कि ग्रामीण लोगों को जो आनन्द आल्हा-ऊदल, सांग आदि से प्राप्त होता है वह सिनेमा, कवि-सम्मेलन, सरकस आदि से नहीं मिलता।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरंजनों मे प्राचीन (१) रामलीला और (२) रासलीला है। इनके ऐतिहासिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं स्वरूपों के विषय में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। वास्तव मे यह अनुसंधान का विषय है। किन्तु इतना निश्चित है कि रासलीला में महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र का विशेष हाथ रहा होगा। यदि हिन्दी-साहित्य में इनको रासलीला प्रवर्तक कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। इस सब से निष्कर्ष यह निकला कि रासलीला का आरम्भ सम्भवतः १५३१ ई० के आस-पास हुआ होगा। रासलीला के ही आधार पर रामलीला का भी विकास हुआ होगा यह विद्वानों का विचार है। इन दोनों लीलाओं में विशेष दृष्टव्य भारतीय संस्कृति की एकता रही है। साथ ही उत्तर तथा दक्षिण भारत की धार्मिक एकता के सम्बन्ध-सूत्र का भी निर्वाह हुआ है।

इस प्रवृत्ति का तीसरा रूप बंगाल में प्रचलित "यात्रा" का है। भगवान की साकार उपासना का—यह नाटकीय अभिव्यंजन बहुत ही लोकप्रिय रहा है। किन्तु याद रहे कि इतना लोकप्रिय होते हुए भी इनका रंगमंचीय अनुकरण नही हुआ है।

इनके अतिरिक्त मनोरंजन का अन्य साधन स्वांग है। स्वांग का अर्थ नकल है। इसका उल्लेख "मसनवी नैरंगे इश्क" मे हुआ है। इसके लेखक औरंगजेब के समकालीन "मौलाना गनीमत" है। इनका रचना काल ई० १६८५ माना जाता है। इसमें "भगत बाज" नाटक दल का प्रयोग हुआ है। जिससे सिद्ध होता है कि उस समय किसी पूर्व परम्परा को लेकर नाटक और नकल का यह रूप प्रचलित था।

इन्हीं रूपों का विकसित एवं व्यवस्थित रूप नाटक, एकांकी एवं एक दृश्य है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में देवताओं के आग्रह पर नाटक के प्रयोजन पर प्रकाश डाला था। उनके अनुसार—"विनोद जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति···" अर्थात् नाटक संसार के समस्त प्राणियों के लिए विनोदकारी होगा। इसके महत्त्व, व्यापकता, रमणीयता और उद्देश्य का यहाँ विस्तार से वर्णन न करके आगे किया जाएगा। इसी नाटक से एकांकी का और एकांकी से एक दृश्य का जन्म हुआ।

आज के वैज्ञानिक युग में मनोरंजन के अनेक साधन हैं, फिर भी नाटक की रम्यता या महत्त्व अक्षुण्ण है। यही इसकी विशेषता है।

नाटकोत्पत्ति

नाटकों की उत्पत्ति कब हुई और कैसे हुई यह विषय अनुसंधान का है। यह विषय आज भी विवादग्रस्त है और सम्भवत' रहेगा कि नाटक का उद्भावक कौन है, या नाटक का प्रचलन कब हुआ ? वास्तव में मानव जीवन के दैनिक क्रियाकलाप, गतिविधि नाटक के विभिन्न अंक और दृश्य ही तो है। यदि थोड़े से शब्दों में यह कहा जाय कि नाटक की उत्पत्ति मानव की उत्पत्ति के साथ-साथ हुई है तो कदापि भी असत्य नही होगा। यह दूसरी बात है कि उसे इसका ज्ञान कब और कैसे हुआ। अत' मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ क्रमशः उसकी बौद्धिक चेतनाशक्ति रुचि और आवश्यकता का विकास भी हुआ होगा। इन्हीं विभिन्न अवस्थाओं में निश्चय उसे इस अनुकरणात्मक एवं मनोरंजक प्रवृति से लगाव हुआ होगा। जिस प्रकार अनुकरण की प्रवृति अत्यन्त प्राचीन है और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ (Stages) रही हे उसी प्रकार नाटक की भी मानी जाती है। बस, जिस समय भी अनुकरण में कलात्मकता का प्रवेश हुआ तभी से इसके सुन्दर स्वरूप का निर्माण हुआ।

"विनोद जननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति" अर्थात् भरतमुनि के अनुसार नाटक संसार के प्राणियों के लिये विनोदकारी है। वास्तव मे यह तत्व नाटक का मुख्य प्रयोजन था। आज भी नाटक विनोद या मनोरजंन की दृष्टि से मान्य है।

वास्तव में नाटक की उत्पत्ति के बीज वैदिक काल में उपलब्ध होने लगे। उनके विभिन्न रूप नृत्य, नृत्याख्यान, स्वांगपूर्ण नृत्य, सम्वाद-आख्यान युक्त नृत्य रहे होंगे। कला के अपरिष्कृत तत्त्व जनता के जीवन मे बिखरे हुए थे और कालान्तर में वेदों की रचना के समय वे संश्लिष्ट होकर वैदिक रचनाओं में दृष्टव्य होने लगे। वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में ही सम्भवतः इसका निश्चित स्वरूप बना होगा। हाँ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक के विभिन्न अंगों का सांगोपांग विवेचन प्राप्त होता है। तो यह निश्चय है कि इनसे पूर्व भी कुछ नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ अवश्य रहे होगें। जब नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ थे तो उनसे पूर्व नाटक भी अवश्य होंगे, क्योंकि लक्षण ग्रन्थों का निर्माण लक्ष्य ग्रन्थों से पूर्व होता है।

"क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्। न वेद व्यवहारोय संश्राव्यः शूद्र जातिषु"—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उन परिस्थितियों में नाटक के विभिन्न विशिष्ट

तत्त्वों को एकत्र करके तथा कलात्मक बनाकर नाट्य रचना के निर्माण के लिए प्रयत्न चल रहे थे ।

डॉ० दशरथ ओझा ने अपने शोध-प्रबन्ध में इस विषय पर प्रकाश डाला है । उनका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"जन नाटक तो स्वाभाविक रूप से जन समुदाय में विद्यमान था ही केवल इतना ही अवशिष्ट था कि जन नाटकों का अभिनय संस्कृत रूप उपस्थित किया जाए, जिससे समस्त वर्णों एवं सभी जातियों का मनोरंजन तथा उन्नयन हो । जन नाटक का एक प्रकार से यह साहित्यिक रूप निर्धारित हुआ । दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक यज्ञ को नाटक-रूपी नवीन संस्करण प्रादुर्भूत हुआ । आर्यों और अनार्यों का नाटक द्वारा इस प्रकार सम्मिलन हुआ और देश में सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई ।"

डा० ओझा ने इस विधा के प्रवर्तक भरत मुनि को एक स्वर से स्वीकार किया है—"अब हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतवर्ष की विभिन्न जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न कराने का श्रेय नाटक-शास्त्र के उस महान आचार्य को ही मिलना चाहिए, जिसको हम भरत मुनि के नाम से पुकारते है ।"

इस प्रकार नाटकों की उत्पत्ति आदिकाल मे हुई थी और मानव की सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसका विकास एंव पूर्णता प्राप्त करना सहज सम्भाव्य है। इस उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों के अनेक मत हे उनका विवेचन अगले प्रष्ठों में किया जायगा ।

उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत

भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्य शास्त्र पञ्चम वेद है । इसके निर्माता ब्रह्माजी हैं ।

दैवी उत्पत्तिः—"प्रणम्य शिरसा देवौ पितामह महेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥"

जब त्रेतायुग में लोग दु.ख से आक्रान्त होने लगे तो उन्होंने ब्रह्मा जी के पास जाकर अपने मनोरंजन के लिए किसी सामग्री की मांग की । ब्रह्मा जी ने उनकी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए तथा साथ ही साथ सांस्कृतिक एकता अर्थात् आर्यों और अनार्यों के विभेद को मिटाने के लिए पंचम वेद का निर्माण किया । जिसे नाटय शास्त्र नाम से अभिहित किया गया । ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से उनकी विशिष्ट सामग्री को एकत्र कर इस पंचम वेद का सृजन किया । कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने ऋग्वेद से कथा, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर

नाट्यवेद का सृजन किया। भरत मुनि ने अपने १०० पुत्रों एवं अप्सराओं के सहयोग से इन्द्रध्वज के अवसर पर इसका अभिनय किया।

वास्तव में यह मत वैज्ञानिक तथ्य से शून्य है केवल धार्मिकता का अवलम्ब लिए हुए है। हिन्दू समाज ब्रह्मा को सृष्टि का उत्पादक मानता है। इसी के अधार पर समस्त वेदों को भी उन्होंने ही रचा था। आज यह तर्क ग्राह्य नहीं है। वास्तव में इस शास्त्र को जो विछिन्न अवस्था में था उसे महत्ता एवं प्रचालन के दृष्टिकोण से ही इस प्रकार की कथा को जोड़ा गया। श्री रामगोपाल चौहान के अनुसार यह मत बुद्धिग्राह्यता और वैज्ञानिकता के अभाव में मान्य नही हैं। किन्तु इस मत से दो निष्कर्ष निकलते हैं जो विशेष दृष्टव्य है। एक यह कि नाटक का शूद्र अथवा सर्वसाधारण के मनोरंजन के लिए होना और दूसरा यह कि चारो वेदों से कथा, सम्वाद, गीत और अभिनय के सहयोग से नाट्य शास्त्र का निर्माण किया। इसमें सन्देह नहीं कि ये तत्त्व नाटक के प्राण हैं। इस मत के ये दो ही तथ्य प्रायः सभी को मान्य हैं।

वैदिक उत्पत्ति :—कुछ विद्वानों ने भरत मुनि के कथन 'जग्राह पाठ्यम्' से प्रेरित होकर नाटकों की उत्पत्ति वैदिक मानी हैं। दैवी मत और वैदिक मत में वास्तव में कोई विशेष भेद नहीं है। केवल इस मत के अधिकारी ब्रह्मा द्वारा चारों वेद से निसृत गीत-कथा सम्वाद और अभिनय का तत्त्व ग्रहण नहीं करते।

केवल वेदों को या वैदिक सूक्तों को ही नाटक की उत्पत्ति का मूल स्रोत मान लेना न्यायसंगत नहीं है। हाँ, वेद या वैदिक सूक्त नाटक के विकास में सहयोगी अवश्य हैं।

धार्मिकोत्पत्ति :—इस दिशा में केवल भारतीय विद्वानों ने ही नहीं वरन् पाश्चात्य विद्वानों ने भी अनुसंधान किया है। डा० कीथ ने पतंजलि महाभाष्य में नाटक की धार्मिक उत्पत्ति के मत की स्थापना की है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने अनेक उदाहरण स्वरूप नाटकों को भी गिनाया है, जैसे—कंसवध, वलिवध, इन्द्र-विजय आदि। केवल धार्मिक भावना ने इस ओर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। भारतीय नाटकों का सुखान्त होना भी उनके मत की पुष्टि में सहायक सिद्ध होता है।

धार्मिक या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर यह अतिवाद की सीमा पर स्थित है। यह ठीक है कि उसके पात्र (नायक आदि) धार्मिक अवश्य रहे है। वास्तव में धार्मिकता का आ जाना भारतीय संस्कृति का सूचक है और इसका आधिक्य या आना आदर्शवादिता का द्योतक है। केवल उसके आधार पर अन्य तर्कों की उपेक्षा उचित नहीं जँचती।

वीर-पूजा से नाट्योत्पत्ति :—डॉ० रिजवे ने अपनी पुस्तक (Dramas and Dramatic Dances in Non-European Races) में नाटक की उत्पत्ति के सिद्धान्त को वीर-पूजा सम्बद्ध माना है। यही मूल भावना नाटक की उत्पादक है।

नाटकों में वीरता के तत्त्व के आधार पर अन्य तत्त्वों का बहिष्कार या त्याग करना समीचीन नहीं है। यह भावना प्रमुख हो सकती है परन्तु सर्वेसर्वा नहीं। धार्मिक भावना आदि के समान यह भी भ्रान्तिपूर्ण एवं असंगत है। क्योंकि यदि वीर-पूजा की भावना ही मुख्य प्रेरणा होती तो नाटकों में शृंगार रस की भरमार न होती। अतः यह तर्क वैज्ञानिक सत्य से दूर है।

पुत्तलिका नृत्य—डॉ० पिशेल ने पुत्तलिका नृत्य से नाटकों की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। नाटकों में सूत्रधार का होना इस बात का प्रमाण सिद्ध करता है कि पुत्तलिका से नाटकों की उत्पत्ति हुई है।

आज की खोज के अनुसार नाटक पुत्तलिका नृत्य के प्रेरणा स्रोत है न कि नाटकों के जन्मदाता। मनुष्य अनुकरण करने से पूर्व अनुकरण के अन्य साधन-कठपुतली आदि से लाभ नहीं उठा सकता। अतः निश्चित रूप से ये नाटक के बाद की अवस्था है।

छाया नाटक—डॉ० कोनो और पिशेल के अनुसार छाया नाटक इसके उद्भावक है। इस तर्क के लिए 'दूतांगद' नाटक को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में यह मत भी पुत्तलिका के समान भ्रांतिपूर्ण है।

इन्द्रध्वज महोत्सव—इन्द्रध्वज महोत्सव या यूनान के पोल डांस से नाटकों की उत्पत्ति मानना भी उचित नही है। ये सामूहिक उत्सव है। ये दोनों नाटक के बाद के रूप है न कि नाटक के सृष्टा।

प्रकृति-परिवर्तन—कतिपय विद्वानों ने प्रकृति-परिवर्तन को नाटकों का स्रष्टा कहा है। इस मत की पुष्टि के लिए 'कंसवध' नाम का नाटक प्रसिद्ध है। इसमें प्रतीकात्मक व्यंजना है, जिसके आधार पर इसे इतना महत्व दिया गया है। प्रतीकात्मक अभिव्यंजना केवल नाटकों की उत्पत्ति कर सकी यह बिलकुल भ्रान्तिपूर्ण है।

यूनानी प्रभाव—डॉ० वेबर एवं विण्डिश इसे यूनानी प्रभाव बताते हैं। केवल 'यवनिका' शब्द इनके मत की पुष्टि करता है।

किन्तु इतिहास के आधार पर यह सर्वमान्य है कि भारत में विदेशी लोग कुछ सीखने आते थे। भारत के नाटकों पर यूनानी प्रभाव नही पड़ा। उनका विकास एवं आविर्भाव अपने ढंग से हुआ है।

प्रो० डोनल्ड क्लाइव स्टुअर्ट ने बच्चों की स्वाभाविक क्रिया से नाटक की उत्पत्ति मानी है। यह मत आंशिक रूप से ठीक लगता है।

वास्तव में नाटक की उत्पत्ति एक दिन में या किसी एक व्यक्ति ने नहीं की है और ना ही यह एक अनायास क्रिया थी। यह वर्षो के परिश्रम का परिणाम है। लेकिन यह सर्वमान्य है कि इसके प्रचार और प्रसार में भरत मुनि का विशेष हाथ रहा है। इसीलिए उन्हें इसका स्रष्टा कहा गया है।

वैसे सभी मत आंशिक सत्यता और तथ्यता पर अवलम्बित है, वे केवल मानसिक प्रलाप नहीं हैं। हाँ, दैविक उत्पत्ति उनमें विशेष दृष्टव्य अवश्य है।

काव्येषु नाटकं रम्यम

नाटक अपने युग का निर्मल दर्पण होता है। किसी भी नाटक में युगीन वातावरण का समीकरण अनायास हो जाने से उसका विशेष महत्त्व बढ़ जाता है। नाटक साहित्य के अपने पृथक महत्त्व है जिनके कारण उनका आज भी समाज में वही स्थान है जो पहले था। इन महत्त्वों तथा विशेषताओं का विवेचन हम नीचे कर रहे हैं—

१. नाटक "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्" है। अर्थात् जीवन की विभिन्न (विषम तथा सम) परिस्थितियों का मनोरम अनुकरण नाटक है।

२. नाटक का विषय सीमित नहीं। इसमें विभिन्न दृश्यों का आयोजन किया जाता है ताकि सभी की रुचि की तृप्ति हो सके। अतएव इसमें मानवीय तथा अमानवीय सभी वृतियों का निरूपण यथा अवसर किया जाता है।

३. नाटक अन्य कलाओं की अपेक्षा सामूहिक कला होने के कारण जन-रुचि के निकट है। इसीलिए यह जन-कला कहलाती है। अन्य कलाओं के आनन्द के लिए उनका विशेष ज्ञान अवश्यक है किन्तु नाटक कला के लिए ऐसा कोई नियम अनिवार्य नहीं है।

४. आचार्य गुलाबराय के अनुसार "नाटक में जहां दृष्टा की कल्पना पर कम बल पड़ता है वहां स्रष्टा की कल्पना पर अधिक भार रहता है।"

५. अभिनय को मानवीय वृत्तियों का उत्तेजक सिद्ध करके कतिपय विद्वान उपेक्षित करते हैं। किन्तु नाटक की पूर्णता उसके अभिनय में ही है।

६. भरत मुनि ने नाटक को "सपृद्वीपानुकरणं नाट्यम्" कह कर उसकी व्यापकता पर प्रकाश डाला है, अर्थात इससे सभी प्रकार के शिल्प, विद्या, कला, योग तथा कर्म का ज्ञान होता है।

७. नाटक से सभी विधाओं—कविता, कहानी, गद्यगीत आदि का आनन्द प्राप्त होता है।

८. नाटक एक उपदेशात्मक साधन है।

९. इस कला से अनुकरण की कला में प्रवीणता आती है, जिससे लोकानुरन्जन होता है।

१०. श्री चन्द्रशेखर भट्ट के अनुसार 'काव्य से संबंध रखते हुए भी नाटक कविता से भिन्न है। इसमें कल्पना को स्फूर्ति देने की शक्ति कविता की अपेक्षा कहीं अधिक है। कविता से नाटक को अलग करने वाली वस्तु रंगमंच है।'

११. नाटक कलात्मक अनुकरण प्रस्तुत करके सामाजिकों में रस का संचार करता है। साथ ही पैतृक विद्या को जीवित रखने में सहायक होता है।

इन विशेषताओं के कारण ही नाटक को साहित्य में 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा जाता है।

नाट्य वर्जनाएँ

जो दृश्य रंगमंच पर नहीं दिखाए जाते उन्हें आधुनिक शब्दावली में वर्जनाएँ कहते हैं। ये निषिद्ध प्रसंग सामाजिकों की रुचि का परिष्कार न करके व्याघात उत्पन्न करते हैं। किन्तु आधुनिक नाटककार इन वर्जनाओं का प्रयोग निशंक भाव से करते है। वास्तव में इन के निषेध के मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक आधार हैं, ये प्रगल्भ प्रलाप मात्र नहीं !

नाटक अपने युग का निर्मल दर्पण है। इनमें देश की संस्कृति भी यत्र-तत्र मुखरित हो उठती है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय नाटक भारतीय संस्कृति के प्रबल संरक्षक एवं माध्यम रहे है। साथ ही यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि भारतीय संस्कृति और भारतीय-जीवन दर्शन दोनों परस्पर एक दूसरे से आबद्ध हैं। नाटक-शास्त्रों पर इन दोनों का अमिट प्रभाव लक्षित होता है। नाटक का प्राण तत्त्व रस सर्वमान्य है। रस और आनन्द दोनों पर्यायवाची है। अतः जो दृश्य रस की विघा तक सिद्ध होते है उन्हें वर्ज्य दृश्यों के नाम से अभिहित किया गया है। ये प्रसंग सूच्य रूप में ही नहीं वरन दृश्य रूप में भी वर्जित माने गए है। इनकी सूची नीचे प्रस्तुत की गई है।

१. वध, मृत्यु आदि दुःखद प्रसंग जो प्रेक्षक के हृदय में त्रास एवं करुणा का संचार करते हैं, उनको नाटकों में निर्वासित किया गया है।

२. क्रीड़ापरक (अश्लील) दृश्य जिनमें श्रृङ्गारिकता का मुक्त चित्रण हों नाटक से निकाल दिए गए। वास्तव में ये दृश्य शिष्टता की सीमा का उल्लंघन कर जाते है और सामाजिकों के आचार एवम् विचारों को दोषों से अभिमंडित करते है। उदाहरणार्थ, नख-छेद, दन्त-छेद, आदि दृश्य!

३. अमांगलिक अश्लील दृश्य जिनसे दर्शकों को वीभत्स एवं जुगुप्सा का आभास होता है, वे भी निषिद्ध माने गए!

४. अरोचक और इतिवृत्तात्मक प्रसंग जो नाटक मे नीरसता के द्योतक है, उनका भी कोई अस्तित्व स्वीकार नही किया गया। उदाहरणार्थ, भोजन, शयन, स्वप्न आदि।

५. अनेक ऐसे दृश्य जो रंगमंच की असमर्थता के कारण निषिद्ध थें। जैसे, नगरादि अवरोध आदि।

६. जिन दृश्यों से रंगमंच के विस्तार की आवश्यकता पड़े तथा जो रस के विरोधी हों। जैसे, राज-विप्लव, युद्ध, विवाह आदि।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में त्रासदी की कल्पना होने के कारण इनका विशेष महत्व न रहा। इसी कारण इनको इंगित तो अवश्य किया गया है परन्तु ये बन्धन न थे। वास्तव में यह अनर्गल प्रलाप नहीं वरन् भारतीय दर्शन के प्रतीक है। साथ ही रस के विरोधी और रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण ही इन्हे वर्ज्य माना गया हे। भारतीय काव्य-शास्त्र का आधार रस सदैव से रहा है परन्तु पाश्चात्य में त्रास की प्रमुखता है। यही कारण है कि इनका वहाँ कोई महत्व नही है।

नाट्य वर्जनाओं का औचित्यः—इन वर्जनाओं की परिकल्पना रूढिमात्र नहीं वरन् मूलतः रस को सुरक्षित रखने के लिए की गई। हाँ, गौण रूप से नैतिकता भी अवश्य इनके अभाव से प्रतिष्ठित होती है। प्रश्न उठ सकता है कि भयानक, वीभत्स, करुणा, सम्भोग, श्रृङ्गार आदि के दृश्य केवल नाटकों के लिए क्यो वर्जित माने गए। उन्हे श्रव्य काव्य से क्यों नही वहिष्कृत किया गया? इसके अनेक कारण हैं, जैसे प्रेक्षक का सम्बन्ध रंगमंच के साथ होता है। इसके अतिरिक्त दृश्य काव्य का प्रभाव प्रत्यक्ष होता है। इनसे प्रेक्षको मे भ्रान्ति का उन्नयन होता है; जैसे वध से उसका भयभीत होना जबकि उसे पता है कि यह सत्य है। पारिभाषिक शब्दावली में यह रंगमंच है। इसी कारण श्रृङ्गारादि दृश्य जो काव्य रस होते है कही सहृदयों में लौकिक व्यावहारिक अनुभूति का संचार न कर दें। इसके अतिरिक्त नाटक एक सामाजिक आयोजन है जबकि काव्य एकान्तिक चर्वण। अतः सामाजिक शिष्टाचार का ध्यान नाटक मे रखना अपेक्षित है।

प्रश्न फिर उठ सकता है कि क्या ये श्रृङ्गारिक दृश्य शाश्वत सत्य नहीं ? और यदि है तो इनका विरोध क्यों ? वास्तव में इस तरह के दृश्य सार्वजनिक रूपमें आज भी वर्जित हैं। इनसे चारित्रिक हीनता का प्रसार होता है। अतः मनोरंजन प्रसाधन न होने के स्थान पर हमारी कुवृत्तियों के ये पोषक बन जाएँगे।

प्रश्न फिर उठ सकता है कि पाश्चात्य देशों में इनका अनुकरण क्यों नहीं है ? उत्तर सरल है। प्रत्येक देश की अपनी पृथक् सांस्कृतिक सत्ता होती है। इसके अपने जीवन आदर्श भिन्न होते हैं। इसी कारण ये दृश्य उनके रंगमंच पर तथा चित्रपट पर निःशंक भाव से प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। फिर भी प्रकारान्तर से पाश्चात्य में भी इनका विरोध हुआ है। परिणामस्वरूप जिन्होंने इन्हें (वर्जनाओं को) अपनाया, उनका विरोध वहां भी हुआ।

निष्कर्ष यही निकला कि भारतीय आदर्श, दर्शन एवं संस्कृति के आधार पर इनकी कल्पना की गई जो निराधार नहीं है। यही कारण है कि कला चित्रों में भी अधिक श्रृङ्गारिकता को हटाने के के लिए 'सेन्सर बोर्ड' बैठा है। फिर इस अश्लीलता का विरोध खुल कर किया जाता है।

नाटक और उपन्यास का अन्तर

नाटक और उपन्यास में केवल नाटक के अभिनय गुण से नाटक विभेद उत्पन्न होता है। वास्तव में इनके मूल तत्त्वों के कोई भेद नहीं। केवल स्थूल-रूप से कुछ भेद हो सकते हैं।

१. नाटक में प्रत्यक्ष वर्णन के लिए कोई स्थान नहीं जबकि उपन्यास में इसकी अनिवार्यता सिद्ध की गई है। नाटक में इसे रंग और संकेतों के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाता है। इसी कारण नाटककार किसी भी बात को स्वयं प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसे पात्रों के माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। अर्थात् लेखक का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नाटक के लिए विशेष महत्त्व नहीं रखता ?

२. नाटक का अनिवार्य तत्त्व कथोपकथन है। किन्तु उपन्यास में यह केवल नाटकीयता एवं रस के संचार के लिए ही अपनाया जाता है।

३. नाटक दृश्य और उपन्यास श्रव्य काव्य है। नाटक की यथार्थता उसके अभिनय में ही है किन्तु आजकल के नाटक श्रव्य और पाठ्य होते जा रहे हैं।

४. नाटक प्रदर्शन-मात्र होता है जबकि उपन्यास वर्णन-मात्र होता है।

५. नाटक एक मिश्र कला है। इसमें कहानी, कविता, गीत, नृत्य सभी होता है।

६. माध्यम भेद के कारण दोनों की शैलियों में भी भेद है।

नाटक की शैली में एकाग्रता है तो उपन्यास की शैली मे विस्तार व प्रसार की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है । साथ ही नाटक मे आकस्मिकता की उपलब्धि भी होती है ।

७ जिज्ञासा की उद्बुद्धि और तृप्ति नाटककार आकस्मिक रूप से करता है। उपन्यासकार तो केवल सहज कार्य-कारण श्रृङ्खलाओं का बीजारोपण करता है।

८. नाटककार की कला में तटस्थता अनिवार्य है । इसी कारण यह कला उपन्यास कला से अधिक कठिन है ।

निष्कर्ष यही निकला कि दोनो के उपकरण (कथा, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, शैली, वातावरण) दोनो के लक्ष्य भी एक हैं । आधुनिक नाटको मे रग सकेतो मे औपन्यासिक विवरणो की भरमार है । साथ ही उपन्यास मे कथोपकथन के स्थान पर प्रत्यक्ष दृश्य प्रस्तुत करके नाटककार वर्णित (दोष) से छुटकारा पाने का यत्न कर रहा है ।

नाटक-साहित्य के विभिन्न भेद

नाटक-साहित्य के दो भेद है—१. साहित्यिक और २ रगमचीय । प्रथम साहित्यिक नाटक काव्यत्व से परिपूर्ण है, अर्थात् श्रव्य तथा पाठ्य के रूप मे ही है । ये केवल साहित्यिक दृष्टि से उत्तम हे । द्वितीय "रगमंचीय" नाटक है जो केवल अभिनेय कला-मात्र से परिपूर्ण है । यह कह सकते है कि नाटक के सिद्धान्तो या कला की दृष्टि से दोनो ही अपूर्ण है । क्योकि इन दोनो की पूर्णता मे ही नाटक की यथार्थता है । ये दोनो धाराएँ वर्तमान युग तक नाट्य साहित्य मे प्रचलित है ।

कुछ नाटक काव्यत्व तथा अभिनेय दोनो ही दृष्टि से उत्तम कहे जा सकते है । जिनका परिचय यथास्थान दिया जाएगा ।

साहित्यिक नाटक की तीन धाराएँ है—१. नाटकीय काव्य, २. अनुवादित, और ३. मौलिक ।

नाटकीय काव्य—नाटक-साहित्य का आरम्भ नाटकीय काव्य से हुआ है । 'हनुमन्नाटक" तथा "समयसार" आदि नाटक इसी कोटि के है। इनमे काव्यत्व की प्रधानता हे न कि दृश्य और अभिनय की ।

साहित्यिक नाटक—कलात्मक हिन्दी साहित्यिक नाटक दो रूपो मे मिलते है—अनुवादित और मौलिक ।

अनुवाद—आरम्भ काल मे अनुवादों की प्रधानता है। सन् १६४३ ई० के लगभग जोधपुर के नरेश महाराज जसवन्तसिंह जी ने संस्कृत के "प्रबोध चन्द्रोदय" नाटक का अनुवाद व्रजभाषा मे किया। इसमे गद्य और पद्य दोनों ही हैं। यह कलात्मक दृष्टि से सुन्दर है। इसमें अन्योक्ति की प्रधानता है। इसमें श्रद्धा, भक्ति, विवेक आदि मानसिक पात्र हैं।

मौलिक—हिन्दी साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक "आनन्द रघुनन्दन" है। सन् १७०० ई० मे रीवां के महाराज विश्वनाथसिंह जी ने व्रजभाषा में सर्व-प्रथम यह मौलिक नाटक लिखा। इसमे कथावस्तु का विकास हुआ परन्तु चरित्र-चित्रण की कमी है। प्राचीन पौराणिक आख्यान को नवीन प्रणाली में उपस्थित किया गया है कला की दृष्टि से यह उत्तम नहीं है परन्तु फिर भी इसका महत्व अधिक है क्योंकि यह सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य का मौलिक नाटक है। इनका "गीता रघुनन्दन" नामक दूसरा नाटक भी है।

इन दोनों परम्पराओं में आगे चलकर राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवादित "शकुन्तला" और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत "नहुष" नाटक है।

उक्त प्रकार के नाटकों की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१—नाटकीय काव्य मे काव्यत्व की प्रधानता है।

२—अनुवादित नाटकों मे मौलिक भावों की रक्षा तथा भाषा, भाव और कलात्मकता की सफलता है।

३—दोनों प्रकार के (अनुवादित एवं मौलिक) नाटकों में संस्कृत नाट्य प्रणाली का अनुकरण है।

४—दोनों का आरम्भ मंगलाचरण और प्रस्तावना से होता है।

५—अङ्क विभाजन और दृश्य परिवर्तन, नाटक के अन्त में भरत वाक्य आदि संस्कृत-नाटकों के आधार पर ही है।

६—नाटकीय पात्रों का नामकरण भी पुराने रूप में ही मिलता है।

७—चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथावस्तु का विकास अधिक है।

८—आरम्भ काल के सभी नाटक धार्मिक है।

९—इन नाटकों मे आशावादिता है और इनमे चरित्र-निर्माण में सहायता मिलती है।

रंगमञ्चीय नाटक-साहित्य

रंगमंचीय नाटकों मे सर्वप्रथम 'जानकी-मंगल' का हिन्दी भाषा में खेला जाने वाला नाटक भारतेन्दु ने माना है। इसका अभिनय काल सन् १८६२ है।

किन्तु यह नाटक उपलब्ध नहीं है। सबसे प्राचीन रंगमंचीय नाटक 'इन्दर-सभा' है। सन् १८५३ में सैयद आगाहसन अमानत ने अपने आश्रयदाता लखनऊ के नवाब वाजिदअलीशाह के कहने पर यह गीति नाट्य लिखा था और इसका अभिनय लखनऊ के कैसर बाग के रंगमंच पर हुआ था।

यद्यपि यह हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा में गीति नाटक है किन्तु कला की (टेकनीक) दृष्टि से साहित्यिक नाटक की प्रणाली की अधिकता है। मंगलाचरण और प्रस्तावना को निर्देशक द्वारा पूरा किया गया है। इसके आरम्भिक कविता पाठ से ही नाटक की प्रकृति और रंगमंच के शिष्टाचार का परिचय मिलता है। इसका गीत भी प्राय: निम्न स्तर (नीच वर्ग) के लोगों के मनोरञ्जन का है। इसमें परियों का नृत्यगान विलासितामय है। उस काल के लोगों की प्रवृति विलासिता की ओर होने के कारण यह लोकप्रिय नाटक रहा। इसकी अधिक लोकप्रियता को देख-कर ही मदारीलाल ने एक और दूसरी इन्द्रसभा लिखी। जो नाट्य कला की दृष्टि से अमानत की इन्दर सभा से अधिक उत्कृष्ट है। उसमें कार्य व्यापार और चरित्र-चित्रण का विकास अच्छा हुआ है।

इस प्रकार रंगमंचीय नाटकों का आरम्भ गीति नाटक से हुआ है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि रंगमंचीय नाटक और साहित्यिक नाटकों के लिए कोई रंगमंच की परम्परा थी या नहीं। यह तो मानना पड़ेगा कि साहित्यिक नाटकों का सम्बन्ध किसी अभिनय शाला अथवा नाटक कम्पनी से नही था। अत: स्वतन्त्र प्रयास ही कहा जा सकता है। साहित्यिक अंगों की पूर्ति के लिए ही ऐसे नाटक लिखे गये। रंगमंचीय नाटकों का भी प्रथम रंगमंच केसर बाग लखनऊ का ही है। इसमें प्रधानता केवल मनोरंजन की है।

हिन्दी नाटक के अभाव के कारण :—जिन उपकरणों से साहित्य का उदय होता है वे प्रत्येक साहित्यिक रचना के लिए समान नहीं होते। इस दृष्टि से नाटक-साहित्य के लिए यदि आवश्यक उपकरण पर ध्यान देते हैं तो उसके दो आवश्यक तत्त्व हैं—

१. जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण।

२. इस दृष्टिकोण का व्यक्तित्व रहित अभिव्यंजन।

नाटककार का जीवन एकमात्र जीवन या आनन्दमय नहीं होता। उसका जीवन एक मात्र क्रियाशील और गतिमय होता है। वह अपने जीवन को दर्शकों के या पाठकों के सामने कलात्मक रूप देकर उपस्थित करता है। यद्यपि किसी भी साहित्यिक रचना के लिए भाव ही प्रधान होता

है। किन्तु जब हर्ष और उन्माद, शोक और रुदन, हास और विनाश आदि अप्रकट होते है, उस समय वे कविता का रूप धारण कर लेते है। इसमें व्यक्तित्व की प्रधानता होती है।

कवि स्वयं उस भाव को अनुभव करता है और स्वयं ही उसमें मग्न होता है। किन्तु जिस समय लेखक अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखकर अन्य पात्रों में उस व्यक्तित्व का अरोप करता है, उसी समय नाटक का जन्म होता है। इस कथन या शैली का अनुभव मिल्टन आदि पाश्चात्य साहित्यकारों ने भी किया था। अतः जिस युग में इस प्रकार की विचारधारा हुई उसी युग मे नाटक रचना का जन्म हुआ। परन्तु हमारा आलोच्य काल इनसे प्रतिकूल था। अतः नाटकों के अभाव के प्रमुख कारण निम्नलिखित है :—

१. शताब्दियों की दासता।
२. धार्मिकता की लहर।
३. नियतिवादिता (भाग्यवादिता)।
४. दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रचुरता।
५. संसार की असारता, मोक्ष की चिन्ता और आत्मसमर्पण की भावना।
६. गद्य का अभाव।
७. हिन्दी मे नाट्य शास्त्र के ग्रन्थों का अभाव।
८. नाट्य कला से अनभिज्ञ होना।

आलोच्य काल में उक्त सभी बातें मिलती हैं। इनके कारण जीवन क्रिया-हीन हो गया था। वेद और उपनिषदों के द्वारा मानसिक और आत्मिक विकास अवश्य हुआ है। किन्तु संसार से सम्बन्ध न रखकर सारी शक्ति ब्रह्मानन्द की खोज में लग गई। मोक्ष पाने की चिन्ता ने भी निष्क्रिय बना डाला। भक्ति के आत्मसमर्पण ने भी इसी का समर्थन किया। अतः तत्कालीन जीवन गतिशील न बनकर चिन्तन-शील बन गया। राजनैतिक दासता से भी जीवन नष्ट हो गया।

धार्मिकता और दर्शनिकता का प्रमाण तो स्वयं आलोच्य काल के नाटक है। इनमें सत्य-असत्य, शान्ति-अशान्ति पुण्य और पाप आदि की ही बातें हैं। परि-स्थितियों के बदलते ही धार्मिकता शिथिल हो गई। जीवन संघर्षमय बन गया। बुद्धि-वाद का जन्म हुआ तथा नाटक के उपकरण उचित वातावरण में एकत्रित होने लगे। परिणामस्वरूप आगे नाटक लिखे गए। यह स्वाभाविक स्थिति थी। अतः अन्य विद्वानों द्वारा जो नाटक के अभाव के लिए जो कारण दिए गए है वे मुख्य न होकर गौण

अवश्य थे। वास्तव में नाटक ही क्या, किसी भी विधा के अभाव का कारण युग के वातावरण में विषय-सम्बन्धी चेतना का विलुप्त होना है।

आलोच्यकाल के नाटकों की शैलियाँ

आलोच्यकाल के नाटकों की शैलियों के विषय में निम्नलिखित बातें ध्यान रखने योग्य हैं—

१. नाटकों का सृजन और विकास नहीं हुआ।

२. प्रबन्धात्मक और गीतात्मक नाटक हैं।

३. ये सभी नाटकीय काव्य हैं।

४. इनमें गतिशीलता, दृश्य और प्रसंगादि की उपेक्षा है। नाटकीय काव्यों के रूप में हनुमन्नाटक, समयसार और शकुन्तला-उपाख्यान मुख्य हैं। अन्य प्रकार के आगे के नाटकों में कार्य गति, दृश्य गति, परिवर्तन, चरित्र-चित्रण, वार्तालाप, रंग संकेत, भूमिका आदि का विकास हुआ है। इस युग में नाटकीय साहित्य की चार धाराएँ उत्पन्न हुई हैं—

१. नाटकीय कविता।

२. अनुवादित नाटक।

३. मौलिक नाटक।

४. रंगमंचीय नाटक।

भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी नाटकों के अभाव के कारण

यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों का एकमत नहीं है क्योंकि इस दिशा में अभी अनुसंधान चल ही रहा है। फिर भी उनकी सम्मतियों में तथ्य अवश्य हैं। इसलिये उनके विचारों का सार आज भी मान्य है। हिन्दी नाटक-साहित्य के अभाव के कुछ प्रमुख कारणों को नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

१. उपन्यासों की ओर दिन-दिन बढ़ने वाली रुचि के अतिरिक्त अभिनय-शालाओं का अभाव। —(पं० रामचन्द्र शुक्ल)

२. शान्तिमय वातावरण का अभाव। —(ब्रजरत्नदास)

३. जातीय उत्साह की आवश्यकता का अभाव। —(श्री गुलाबराय)

४. मुसलमानों द्वारा प्रोत्साहन का अभाव।

५. गद्य की प्रतिष्ठा का सम्यक् व्यवस्थित एवं गठित रूप न होना।

६. प्राचीन काल में नाटक में अभिनय करना अच्छा न समझा जाना अर्थात् अभिनेताओं के उपयुक्त आदर का अभाव ।

७. नाटककार का अभिनय की कला से अनभिज्ञ होना । अर्थात् वह स्वयं अभिनय नही करता था ।

शुक्ल जी के मतानुसार उपन्यास की ओर रुचि नाटक के अभाव का कारण है—वास्तव में सत्य और तथ्य से कही दूर है । क्योकि हरिश्चन्द्र से पूर्व उपन्यासों की ना ही तो इतनी अधिक मात्रा में रचना ही हुई थी कि इस ओर लोगों की रुचि मे व्यवधान पडना और ना ही लोगों की इस ओर प्रवृत्तियाँ विशेष आकृष्ट हुई थी । रही नाट्यशाला की बात वह भी कोई प्रबल युक्ति नही है । क्योंकि जहाँ हिन्दी में इस पवृत्ति का आगमन सस्कृत-साहित्य से हुआ है वहाँ इसकी रंगशाला का भी उल्लेख है; और साथ ही हिन्दी के नाटककारो के सम्मुख संस्कृत के नाटक और नाट्यशालाएँ थीं जहाँ यदाकदा नाटक अवश्य खेले जाते रहे होंगे । सस्कृत के नाटकों की रचना भी बिना रंगमंच और अभिनय के निरन्तर होती रही । इसके अतिरिक्त यह नही कहा जा सकता कि संस्कृत के सभी नाटक रंगमच पर खेले गए या रगमंच के उपयुक्त थे । यदि यह कहा जाए कि हिन्दी मे नाट्य शास्त्र जैसे ग्रन्थो का अभाव था तो इसका उत्तर यह होगा कि पहले ग्रन्थो की रचना होती है न कि लक्षण-ग्रन्थों की ।

इसी प्रकार बाबू ब्रजरत्नदास का मत भी कोई प्रबल नही है; क्योकि अकबर और जहाँगीर का शासन काल कोई विशेष संघर्षमय नही था । उस समय मे अन्य सभी ललित कलाओं का उन्नयन और विकास द्रुत गति से हुआ है । इसीलिए अकबर के काल को हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्णयुग कहा जाता है । उसी युग मे सत् काव्य के निर्माता सूर और तुलसी जैसों का अवतार हुआ ।

जहाँगीर का शासनकाल भी कोई संघर्षमय नही था । धार्मिक काव्य रचनाएँ ...ी धार्मिक स्वतन्त्रा की सूचक है । शाहजहाँ का काल भी हिन्दी साहित्य ...ा । सुन्दरदास, चिन्तामणि तथा कवीन्द्र आचार्य जैसे विद्वान उसके ...दे थे । फिर संगीत के धुरन्धर ज्ञाता महाकविराय जगन्नाथ ...न हैं । अतः नाटक रचना के अवरोध के लिए युगीन- ... नही है । ...ागिक रूप से वातावरण का अभाव

... हिन्दुओं के लिए विशेष दु:सप्रद
... ...नि ...र्म आदि का

जतना विनाश एवं ह्रास हुआ है उतना किसी अन्य समय में नहीं, फिर भी नाटकों ; ही विषय में उसकी ऐसी आज्ञा नहीं थी कि वह इनका विरोधी हो। वास्तव में तो साहित्य को प्रोत्साहन मिला और न साहित्यकार को ही कोई विशेष सहायता ; आदर। साहित्यकार को न तो मानसिक शांति ही मिली और न शारीरिक अर्थात् ान से तृप्ति मिली। कहने के लिए इस युग में अनाथदास और सुरति मिश्र ने संस्कृत ह 'प्रवन्ध चन्द्रोदय' नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया। नेवाजकृत शकुन्तला सन् १८६० में) और रघुराम नागर का सभासार नाटक (सन् १७०० में) औरंगजेब हे समय में ही लिखे गए थे। अतः व्रजरत्नदास और गुलाबराय जी के तर्क हिन्दी ाटकों के अभाव के युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होते।

जातीय उत्साह को नाटक के अभाव का कारण मानना भी उचित नहीं, क्यों के मुगलों की धार्मिक संकोचवृत्ति को ही हम कारण नहीं मान सकते। क्योंकि उस ाल में धार्मिक स्वतन्त्रता और उसका प्रचार धर्म के क्षेत्र में विशेष दृष्टव्य हो सकता : किन्तु कल्पना के पुजारी नाटककार के लिए विशेष महत्व नहीं रखता था।

गद्य के अभाव को हम एक कारण मान सकते है। किन्तु प्रश्न उठ सकता है क व्रजभाषा का गद्य तो था क्या उसमें नाटक रचना नहीं की जा सकती थी या वह ाटक के अनुकूल न था ? तर्क की दृष्टि से यह सत्य है कि व्रजभाषा में नाटक रचे ा सकते थे, किन्तु व्रजभाषा केवल काव्य मयी ही थी। अर्थात् उसमें लालित्य और रिष्कार इतना कर दिया था कि वह केवल काव्यमयी वन गई थी। वह गद्यात्मक रूप को त्याग बैठी थी। अतः नाटक के उपयुक्त जैसी भाषा चाहिए थी वह प्राप्त ा हो सकी।

भाषा के सम्बन्ध में कुछ शंकालु विद्वानों का यह तर्क भी उचित है कि ाटक की रचना पद्य में भी हो सकती थी। यह तर्क शतप्रतिशत सत्य है और सी के आधार पर भाषा को नाटकों का कारण मानना उचित नहीं है। संस्कृत के ायः सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता रही है।

वास्तव में न तो अभिनेता को और न ही नाट्यकार को अधिक आदर की दृष्टि ो देखा जाता था। यह कार्य घूमने-फिरने वाले नीच जाति के नटों का व्यवसाय ी समझा जाता था। इसी कारण इसे शिष्ट समाज में उस युग में मान्यता न प्राप्त ो सकी। समाज का अंकुश उस समय विशेष समझा जाता था।

इन समस्त सामाजिक रूढ़ियों का खण्डन वावू हरिश्चन्द्र जी ने किया। उन्होंने स्वयं स्टेज पर नाटकों का अभिनय कर अपने नाटकों के दोषों का ज्ञान प्राप्त किया

व अन्य साहित्यकारों की रुचि को आकृष्ट करने का यत्न किया। अतः समस्त कारण गौण रूप से मान्य हैं। वास्तव में एक ऐसे सबल व्यक्तित्व का अभाव था जो इस ओर साहित्यकारों को आकृष्ट कर कार्य करने के लिए प्रेरित कर सके। यह कार्य बाबू हरिश्चन्द्र जी ने पूर्ण किया, इसीलिए वे आज हिन्दीन-ाटक के प्रवर्त्तक कहे जते हैं।

: २ :

नाटक-साहित्य का विकास : भारतेन्दु युग

भारतेन्दु की रचनाओं पर तत्कालीन प्रभाव :—भारतेन्दु का नाटक-रचनाकाल सन् १८३७-८५ ई० है। इस समय भारत का पूर्वीय भाग अंग्रेजी प्रभाव में आ चुका था। अंग्रेजों ने वाणिज्य व्यवसाय को छोड़कर राज्य स्थापना का कार्य आरम्भ कर दिया था। इस समय तक अनेक घटनाये ऐसी घट चुकी थीं जिनका प्रभाव, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक विचारों पर अधिक रूप से पड़ा। फलतः समाज का प्रतिविम्व साहित्य भी उस प्रभाव से वंचित नही रह सका।

अंग्रेज मिशनरियों के द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार भी हो ही चला था। ईसाई धर्म की छोटी-छोटी पुस्तकें हिन्दी भापा में प्रकाशित होने लग गई थी। भारत के पूर्वीय प्रदेश के हिन्दुओं में उन पुस्तकों का प्रचार-प्रसार हो रहा था। इसी समय वंगाल के राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन के द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज तथा महर्षि दयानन्द जी के द्वारा स्थापित आर्य समाज़ के सिद्धान्तों ने साहित्य पर अपना अमिट प्रभाव डाला। अंग्रेजों ने ही सर्वप्रथम अंग्रेज़ी में भारतीय धार्मिक और सिहृत्यिक ग्रन्थों का अनुवाद किया था। उसका प्रभाव भारतीयों पर भी पड़ा और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की दृष्टि अपने साहित्य की ओर गई। उस समय अंग्रेजी सभ्यता के मेलजोल में आने के कारण साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इधर वंगला साहित्य इससे पूर्ण प्रभावित हो ही चुका था।

वावू भारतेन्दु ने वंगला साहित्य में समयानुकूल नवीनता का अनुभव किया। इधर हिन्दी साहित्य प्राचीनता का भार ही वहन कर रहा था। उसमे कुछ नवीनता नहीं आई थी। तत्कालीन समाज का अपने प्राचीन साहित्य से एक प्रकार का सम्वन्ध टूट-सा रहा था। वावू भारतेन्दु के समकालीन वंगला के प्रसिद्ध नाटककार रामनारायण तर्करत्न, माइकेल मधुसूदनदत्त और दीनवन्धु मिश्र जो अंग्रेजी के आधार को लेकर नवीन ढंग की नाटक रचना कर रहे थे। इन्ही परिस्थितियों के वीच भारतेन्दु की नाटक रचना ने अपना मार्ग प्रशस्त वनाया। अतः भारतेन्दु कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक तीनों परिस्थितियों का प्रभाव उनकी नाटक, रचनाओं में लक्षित होता है।

भारतेन्दु के नाटकों का विभाजन

भारतेन्दु के नाटकों को तीन वर्गों मे विभक्त किया गया है—(अ) अनु॰ (आ) रूपान्तरित और (इ) मौलिक (प्रहसन)।

अनुवादित नाट्य रचनाएँ

१. रत्नावली नाटिका—यह थानेश्वर के प्रसिद्ध राजा और कवि श्री ह॰ के संस्कृत नाटक का हिन्दी अनुवाद है। यह नाटक संदिग्ध है क्योंकि सम्पूर्ण उपलब्ध नही है। इसका अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में हुआ है।

२. पाखंड विडम्बना—यह 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के तीसरे अंक का अनुवाद है। इसमे श्रद्धा, शान्ति, करुणा, दिगम्बर जैन, कापालिक, विष्णु आदि के रूपक हैं। इसका अनुवाद गद्य और पद्य दोनो ही में हुआ है। अनु॰ १८७२ है।

३. धनंजय विजय—यह कांचन कवि कृत संस्कृत के एकांकी ना॰ भाषानुवाद है। इसमें पाण्डवों का अज्ञातवास; राजा विराट के यहाँ दु॰ दुर्योधन द्वारा अपहृत गौओं को छुडाना तथा राजकुमार उत्तर की सहा॰ अर्जुन का दुर्योधन को पराजित करना आदि इस नाटक का कथानक है। ग॰ पद्य दोनों मे अनुवाद अच्छा है। यह इसकी प्रमुख विशेषता है कि इसमे छन्द मे पद्यानुवाद हुआ है जिससे कथा की एकता बधी हुई है।

४. कर्पूर मंजरी—यह प्राकृत भाषा के नाटक का हिन्दी अनुवाद है अनुवाद भी बहुत सुन्दर हुआ हे।

५. मुद्राराक्षस (सन् १८७८ ई०)—यह विशाखदत्त के संस्कृत अनुवाद है। इसमें गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य है सुन्दर है। भूमिका मे अनुवादक ने पूर्व कथा के नाम से नाटक की ऐतिहा॰ भूमि भी दे दी है। भारतेन्दु ने कुछ सुझाव भी रखे है। यह सुझाव और जिसमें आलोचना के तत्व-विद्यमान है, इस ओर नवीन प्रयास था। उन्होंने की रचना की है। इन गीतों से नाटक का शैथिल्य दूर हो सकता है। नाटको मे यह रचना श्रेष्ठ मानी जाती है।

६. दुर्लभ बन्धु—यह शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटक का अनुवाद है। मे बाबू बालेश्वरप्रसाद जी से अधिक सहायता ली गई थी। उसमें गद्य कविता का भी प्रयोग हुआ है। उसका अनुवाद राधाकृष्णदास ने उसे पूर्ण किया। वास्तव मे अनुवाद अपूर्ण रह गया था। फिर बाद में एक मूल ना॰

और विचारों का पूरा निर्वाह हुआ है। पात्रों के नाम भारतीय रीति पर रखे गये ; यही इसकी विशेषता द्रष्टव्य है।

भारतेन्दु उच्चकोटि के अनुवादक थे। इन्होने मौलिकता को स्थिर और सुरक्षि रखकर उसमें सौंदर्य की वृद्धि की है। आवश्यकतानुसार अन्य कवियों की कविताओं भी अपने अनुवाद में स्थान दिया है। इससे इनकी उदारता प्रकट होती है। आप अनुवादों को देखकर यह विश्वास हो जाता है कि इनका संस्कृत, प्राकृत और हिन् भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अपनी संस्कृति से विरक्त होती हुई जनता को अ अतीत के आदर्श का ज्ञान बनाये रखने के लिए ही आपने प्राचीन संस्कृत के नाट का सफल अनुवाद किया है। वास्तव मे यही इनका उद्देश्य था।

जनता की रुचि सवर्धन तथा उसकी इच्छा पूर्ति के लिए अपनी रचनाओं परिवर्तन भी यत्र-तत्र अवश्य किया है। आपने दूरदर्शिता से तत्कालीन साहित्य क्षेत्र का नेतृत्व किया है।

इन नाटकों मे अपनी मौलिकता तो है ही। परन्तु अन्य नाट की छाया भी उनमे वर्तमान है। ऐसे नाटकों को न मौलिक और न अनुवा कहा जा सकता है। वे रूपान्तरित अधिक हैं। भारतेन्दु के ऐसे नाटक है—

१. विद्यासुन्दर (सन १८६८ ई०)—यह बङ्गला नाटक के आभास को लेक लिखा गया। इसमें साधारण कलात्मकता है। वस्तु विन्यास, कार्य व्यापार और घटन के गति विकास में अपरिपक्व नाट्यकला स्पष्ट दिखाई देती है। भारतेन्दु के नाटकों के समान भाषा का सङ्गठन इसमें नही मिलता है। इसमें राजकुमार सु और राजकुमारी विद्या के प्रेम का आख्यान वस्तुतः रोचक है।

२. सत्य हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु की यह सर्वप्रसिद्ध रचना है। इसको श्यामसुन्दरदास जी ने मौलिक माना है और आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने सोमे के चण्ड-कौशिक का छायानुवाद माना है। जहाँ चण्ड-कौशिक मे पौराणिक और इसमें एकमात्र सत्यनिष्ठा। चण्ड-कौशिक मे ५ अंक है और इसमे अक मिलते है। दोनों के आदि और अन्त में भी अन्तर है। सोमेश्वर का विश्वामित्र के चरित्र को प्रधानता देना है और भारतेन्दु के मे हरिश्चन्द्र चरित्र को। अन्त मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों के वहुत से अं से मिलते है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य आदि की दृष्टि से यह नि है कि इसमें मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम। अतः इसे रूपान्तरित कहना ही ठीक होगा।

मौलिक नाटक रचनाएँ

१. प्रेमजोगिनी—यह चार अक की अपूर्ण नाटिका है। इसमें प्रसिद्ध तीर्थ काशी के उन धूर्त धार्मिक कहलाने वाले व्यक्तियों के कारनामे है जिनसे समाज भी दूषित है। साथ ही वाराणसी (बनारस) के गुण्डे, दलाल और पण्डों का खूब व्यंग रूप अंकित है। जीवन का चित्रमय प्रदर्शन इसमे हुआ है। वस्तुतः भारतेन्दु युग से यथार्थवाद का आरम्भ हो गया था। यह इसी रचना के आधार पर मान सकते हैं। यह नाटक सामाजिक यथार्थता को पूर्ण चित्रित करता है।

२. चन्द्रावली—यह भी एक नाटिका है। इसमें भी चार अंक हैं। यद्यपि इसका मुख्य विषय भगवद् भक्ति है तथापि वियोग श्रृंगार की प्रधानता है। यह एक उत्तम प्रेम-प्रधान नाटक है।

३. भारत-जननी—यह नाटक नही औपेरा है। इसमें एक ही दृश्य में आदि और अन्त जुड़े हुए हैं। यही राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिए नाटकीय उद्‌बोधन मात्र है।

४. भारत-दुर्दशा (सन् १८८०)—यह छः अंक का नाटक है। इसमें भारत के उद्धार की प्रेरणा है। राजनैतिक विषय को नाटकीय रूप देने का यह प्रथम प्रयास है। भारत दुर्दशा के इतिहास, विदेशियों की नीति और देशवासियों की मूर्खता आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें भारतेन्दु की निर्भीकता, स्वतन्त्रता और भाषा प्रयोग की निपुणता आदि का विशेष परिचय भी मिलता है।

५. नीलदेवी (१८८१)—यह एक वियोगान्त ऐतिहासिक गीति रूपक है। इसमें दस दृश्य हैं। मुसलमानों की चालाकी और नीचता के दृश्य तत्कालीन वैमनस्य को औचित्य के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें भारतीय ललनाओं को वीर बनाने का आदेश दिया गया है।

६. सती प्रताप—इसकी पूर्ति भारतेन्दु के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने की है। इसमे सावित्री-सत्यवान की कथा के आधार पर सती का प्रताप दिखाया गया है।

भारतेन्दु ने नाटकों के अतिरिक्त प्रहसन भी लिखे है। इनके लिखने का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक तथा राजनैतिक बुराइयों को दूर करना था। इस प्रकार व्यंग और वक्रोक्ति के द्वारा इनकी कला चमक उठी है। भारतेन्दु ने तीन प्रहसन लिखे है।

प्रहसन

१. वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति (१८७३)—इसमें मांसभक्षियों की

जिह्वा लोलुपता, रसास्वादन के लिए धार्मिकता की दुहाई देकर हिंसा को हिंसा न मानने वालो पर खूब व्यंग किया गया है।

२. विषस्य विषमोपधम् (१८७६)—यह रूपक का एक भेदमात्र है। इसमें बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी से उतारे जाने की घटना की कथा को आधार बनाया गया है। प्रसिद्ध है कि लोहा लोहे को काटता है। इसी प्रकार विष की औषधि भी विष ही है।

३. अंधेर नगरी (१८८१)—यह छः दृश्यो का प्रहसन है। इसमें ऐसे राजा के चरित्र का चित्रण हुआ है जिसके राज्य में कोई व्यवस्था नही है। अंधेर नगरी चौपट राजा ; टके सेर भाजी टके सेर खाजा। अपने समय में ही नही वरन् आज भी यह प्रहसन बड़े चाव के साथ पढ़ा और खेला जाता है।

कलात्मक दृष्टि से दो प्रहसन उत्तम है। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' दोनो में व्यंग्य की तीव्रता, पात्रों का चयन (चुनाव), वस्तु का विकास और शिष्ट हास्य सराहनीय है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र का प्रचार

संस्कृत नाट्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि थे। इसके बाद धनञ्जय तथा विश्वनाथ आदि अनेक आचार्य हुए। जिन्होने नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों में नाटकीय तत्वो का विषय निरूपण किया। इन सब का एक मत है। नाटक के तीन प्रमुख तत्व हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र और (३) रस। इन तत्वों की विशद विवेचना सस्कृत के आचार्यो ने की है। नाटकीय नियम देश-काल की अवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं। फिर भी मूल तत्व उनमें सदा विद्यमान रहेगे। भारतेन्दु ने अनुवादित नाटको में इनका पालन यथावत् किया है। मौलिक और रूपान्तरित नाटकों में आवश्यकता और समयानुसार परिवर्तन भी किया गया है।

(१) कथावस्तु—कथावस्तु के तत्व में उन्होने बहुत कम पुरानी परम्परा का अनुकरण किया है।

सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली में धार्मिक और पौराणिक परम्परा मिलती है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी रचनाओं में समयानुकूल कथावस्तु का विषय है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र की निर्धारित परम्परा में परिवर्तन करके भारतेन्दु ने नाटक विषय को विस्तृत और बहुमुखी बना दिया है। इससे नाटक में जीवन-प्रदर्शन की विशालता आ गई और अन्य नाटक लेखको को नवीन कथानकों की ओर प्रवृत होने

की सुविधा भी मिली है। स्वयं भारतेन्दु जी की रचनाओं के विषय इसके प्रमाण हैं। उनके प्रेमजोगिनी मे सामाजिक जीवन का चित्र है। भारत-जननी और भारत-दुर्दशा मे राष्ट्रप्रेम है। नीलदेवी मे नारी-उत्थान की प्रेरणा है तथा अनेक प्रहसनों में जीवन की आवश्यकताओ पर पूर्ण दृष्टिपात है।

(२) पात्र—भारतेन्दु जी ने पात्रों का चयन बड़ी कुशलता से किया है और उनके चरित्र-चित्रण आदि को अधिक विस्तृत कर दिया है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इनके नाटकों में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों का सुन्दर समावेश हुआ है। छायावादी कवि होने के कारण इनके नाटकों में छायावादी तत्व भी यत्र-यत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस विषय पर पृथक रूप से विचार किया गया है। सभी प्रकार के पात्र मिलते हैं। सत्यवादी और पापात्मा, प्रजावत्सल और राजकीय कर्मचारी मंत्री वैद्य, पंडित-काजी आदि ऊंच-नीच सभी है।

(३) रस—रस के विषय मे संस्कृत नाट्यकारों के समान इन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। संस्कृत के नाटकों में काव्यत्व अधिक है और अभिनयेत्व कम। किन्तु भारतेन्दु के नाटकों में साहित्यिकता और अभिनयात्मकता दोनों ही मिलती हैं। इसकी अपेक्षा पात्रों में सजीवता और यथार्थता का विशेष ध्यान रखा गया है।

संस्कृत के नाटकों की भाँति इनमें एकरसता भले ही न हो किन्तु बाह्य द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व का प्रदर्शन उत्तम रूप में हुआ है। भारतेन्दु के नाटकों में प्राचीनता और नवीनता दोनों के ही दर्शन होते हैं। वर्तमान और भविष्य दोनों के चित्रों के साथ ही कुछ-कुछ भूत की भी झलक मिलती है। भारतेन्दु के नाटकों में प्राचीन संस्कृत तथा तत्कालीन बंगला-साहित्य का मनोहर संगम है। भारतेन्दु जी की एक अमूल्य देन है उनके गीत! जिससे गद्य की शिथिलता दूर हो गई है। लावनी कलिंगढा आदि प्रचलित गीतों का प्रयोग सुन्दर हुआ है।

इस प्रकार भारतेन्दु द्वारा हिन्दी नाटकों मे कथावस्तु, पात्र, देश-काल, भाषा उद्देश्य आदि नाटक के अगों की वृद्धि करके हिन्दी नाटक-साहित्य को उन्नत और विकसित होने मे बड़ी सहायता मिली है।

मौलिकता

१. भारतेन्दु ने संस्कृत के अनेक भेदों के उदाहरण हिन्दी मे उपस्थित कर नाटक-क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है।

२. एकाकी नाटकों को जन्म दिया; जैसे 'चन्द्रावली' और 'भारत जननी' आदि एकांकी नाटक हैं।

३. हिन्दी में प्रथम वियोगान्त नाटकों को जन्म दिया । 'भारत दुद' और 'नीलदेवी' वियोगान्त नाटक हैं ।

४. प्रहसन का जन्म तो भारतेन्दु से ही हुआ ।

५. अभिनेयात्मक सुधार भी किया गया ।

६. व्यवसायी धनोपार्जन करने वाली कम्पनियों के द्वारा जनता की को जो विकृत किया गया था उसके लिए आन्दोलन किया गया और अ नाटक लिखे ।

७. शुद्ध गीति काव्य को नाटक में स्थान देकर शुद्ध वातावरण उप किया ।

८. नाटकों की तीनों परम्पराओं (रूपान्तर, अनुवाद, और मौलिक) द्वारा एक मार्ग निश्चित कर दिया ।

९. विभिन्न विषयों तथा इतिवृत्तात्मकता के अतिरिक्त, राजनीतिक, सा सुधार, देश-प्रेम, तत्कालीन राजकीय परिस्थिति आदि का नाटकीय प्रदर्शन के जनता को साहित्यिकता की ओर आकर्षित किया ।

१०. गद्य और पद्य का रूप स्थिर करके नाटकों में पद्य के स्थान का अधिक प्रयोग किया ।

११. नाटकों के नये रूपों का श्रीगणेश किया । प्रहसन, सुखा दुखान्त आदि का समावेश करके नाटकों को समय के अनुकूल बनाया ।

१२. भारतेन्दु नाटक-मंडली की स्थापना करके व्यवसायी कम्पनी दूषित प्रचार को रोका ।

१३. अपने समकालीन अनेक लेखकों को प्रोत्साहन देकर नाटक- की वृद्धि की ।

सबसे प्रमुख नवीनता भारतेन्दु के नाटकों में यह थी कि उन्हें अभिनयोचित बनाया । इस दिशा में स्वयं अभिनय करके अभिनय कला प्राप्त कर अपने नाटकों के दोषों का निवारण सरलता से किया । इधर दृष्टि से खड़ीबोली का प्रसार भी कुछ कम नहीं किया ।

समकालीन नाटककारों पर प्रभाव

१. धार्मिक और सामाजिक भावना के साथ राष्ट्रीयता एवं भावना भी भारतीय मस्तिष्क में सदा से बनी चली आ रही है । अपने देश-

की रक्षा के लिए भारतीय ललनाओं ने भी वीर पुरुषों की भांति जिस अपने महान् त्याग को दिखाया है, वह आर्य जाति को सदा अनुप्राणित करता रहेगा।

२. १२वीं शताब्दी के अन्त में तुर्कों के द्वारा भारत में विदेशी राज्य की स्थापना से लेकर १८४९ में अंग्रेजी राज्य की नींव को दृढ़ होने से पूर्व, मध्य काल में भी स्वदेशाभिमानी मेवाड़ और महाराष्ट्र के वीरों ने अपनी शक्ति और तलवार की पैनी धार का पूरा परिचय दिया था।

३. अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने पर ब्रिटिश कूटनीति के दमन और शोषण चक्र ने फिर से विद्रोह को जगा दिया। हिन्दू और मुसलमानों के सम्मिलित और व्यवस्थित सैनिकों ने सशस्त्र विद्रोह का जयनाद किया। इस वाह्य परिस्थिति के साथ आन्तरिक दीन दशा और शस्य-श्यामला स्वर्ण भूमि को पददलित एंव शोपिता के रूप में देखकर कवि हृदय कराह उठा। उस समय की समस्याओं से अनेक प्रकार के एक्ट और लार्ड डफरिन की दमन-नीति आदि से तत्कालीन साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक था। इसका प्रभाव सबसे पहले बंगला नाट्य-साहित्य पर पड़ा। इस काल के बंगला के अच्छे नाटककार गिरीशचन्द्र घोप, माइकेल मधुसूदन दत्त और मनमोहन बाबू आदि हैं।

४. मुद्रण यन्त्र (प्रेस) के आविष्कार ने पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। उनसे विचारधारा और साहित्य का प्रचार सब ओर फैल गया। भारतवासियों में अपनी संस्कृति के प्रति फिर से अनुराग उद्दीप्त हो उठा।

५. सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना से भी राष्ट्र प्रेम की प्रेरणा साधारण जनता को शिक्षित देश सेवियों के द्वारा मिली।

इन सभी परिस्थितियों के बीच परम पुनीत विश्वनाथपुरी काशी में भारतेन्दु का उदय हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव जो कुछ भारतेन्दु पर पड़ा उससे उसका मंडल भी प्रभावित हो उठा। वह भी दैदीप्यमान होकर साहित्य-गगन में चमकने लगा। भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य की सेवा करने के लिए एक मंडल तैयार कर दिया और उस पर भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं नाट्य-साहित्य का प्रभाव अंकित हो गया।

भारतेन्दु काल के अन्य नाटकों में भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शों तथा नाट्यशैलियों और विचारधाराओं का सम्पूर्ण विकास मिलता है। इनके आदर्श निम्नलिखित हैं—

१. शृङ्गार २. हास्य ३. कौतुक, ४. समाज-सुधार, और ५. देश-भक्ति।

भारतेन्दु द्वारा प्रचलित रचनाओं की चार धारायें हैं—

(१) मौलिक, (२) अनुवाद, (३) प्रहसन और (४) रूपान्तरित।

इनका विकास भारतेन्दु के समकालीन अन्य नाटककारों ने बड़ी तत्परता और पूर्ण दायित्व के साथ किया।

समकालीन प्रमुख धाराएँ

इस युग की प्रमुख धाराएँ मौलिक, प्रसहन, अनुवाद और रूपान्तरित हैं। आगे क्रमशः इनका विवरण दिया जाता है।

मौलिक

इसमें निम्नलिखित धाराएँ ये हैं—

१. पौराणिक धारा—इसमें तीन उपधाराएँ हैं।

(क) रामचरित धारा, (ख) कृष्णचरित धारा, (ग) पौराणिक आख्यानात्मक धारा।

२. ऐतिहासिक धारा—(ऐतिहासिक व्यक्ति एवं घटनाएं)

३. राष्ट्रीय धारा—(देशप्रेम सम्बन्धी)

४. समस्याप्रधान धारा—(धार्मिक और सामाजिक उद्धार की प्रेरणा)

५. प्रेमप्रधान धारा—(प्रेमपूर्ण कथा)

६. प्रहसन धारा—(हास्यपूर्ण कथा)

उक्त धाराओं का क्रमशः परिचय निम्न प्रकार दिया जाता है।

पौराणिक धारा

पौराणिक धारा का आरम्भ भारतेन्दु के चन्द्रावली नाटक से हुआ। इसमें कृष्ण के भक्ति प्रेम का चित्रण है। इसमें कथा-विस्तार सूक्ष्म है तथा कविता की प्रधानता है।

रामचरित धारा में मुख्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

नाम		रचनाएँ
१—शीतलाप्रसाद त्रिपाठी	कृत	रामचरितावली
२—देवकीनन्दन	,,	सीताहरण और रामलीला
३—रामगोपाल	,,	रामाभिषेक
४—बलदेव जी	,,	रामलीला विजय
५—दामोदार सप्रे	,,	रामलीला ७ कांड

६—शिवशंकर लाल	,,	रामायण दर्पण
७—जयगोविन्द	,,	रामचरित
८—बद्रीदीन दीक्षित	,,	सीताहरण और सीतास्वयंवर
९—ज्वालाप्रसाद मिश्र	,,	सीता-वनवास
१०—प्रेमघन	,,	प्रयाग रामागमन

ये सभी नाटक साहित्यिक दृष्टि से साधारण हैं। केवल 'आनन्द रघुनन्दन' टक उत्तम है।

ष्णचरित धारा की प्रमुख रचनाएँ

१—शिवनन्दन सहाय	कृत	कृष्ण-सुदामा
२—देवकीनन्दन त्रिपाठी	,,	रुक्मणी-हरण, कंस-वध और नन्दोत्सव
३—अम्बिकादत्त व्यास	,,	ललिता
४—हरिहरदत्त दुबे	,,	महाराम
५—गजराजसिंह	,,	द्रौपदी-वस्त्रहरण
६—चन्द्र शर्मा	,,	उषाहरण
७—विद्याधर त्रिपाठी	,,	उद्धव वशीठ
८—कार्तिक प्रसाद	,,	उषाहरण
९—अयोध्यासिंह उपाध्याय	,,	प्रद्युम्न-विजय
१०—कृष्णदत्त द्विज	,,	मुगल-विहार
११—प्रभुलाल राय	,,	द्रौपदी वस्त्रहरण
१२—राधाचरण गोस्वामी	,,	श्रीदामा
१३—बलदेवप्रसाद मिश्र	,,	नंद-विदा

उक्त नाटकों के नायक नंद-नन्दन कृष्ण नहीं है वरन् द्वारिकाधीश कृष्ण हैं। इस धारा में अपेक्षाकृत नाटक सुन्दर है तथा कृष्ण लीला का मनोहर वर्णन हुआ है।

पुराण तथा महाभारत मिश्रित और गोपीचन्द भर्तृहरि आदि पर भी नाटक लिखे गये। इसमें चरित्र की प्रधानता है। नाटकीय सफलता की दृष्टि से कोई भी कृति उत्तम नहीं है।

कुछ अन्य नाटक जो पौराणिक अथवा महाभारत आदि ग्रन्थों से महान पुरुषों को लेकर लिखे गये हैं। उनकी सूची निम्नलिखित है—

१. श्यामसुन्दरलाल दीक्षित	कृत	महाराज भर्तृहरि नाटक
२. विष्णु गोविन्द	,,	कर्ण-पर्व
३. देवकीनन्दन त्रिपाठी	,,	लखमी-सरस्वती-मिलन

४. बालकृष्ण भट्ट	,,	दमयन्ती स्वयंबर
५. मंसाराम	,,	ध्रुव-चरित
६. चुन्नीलाल	,,	श्री हरिश्चन्द्र
७. शालिग्राम	,,	मोरध्वज
८. भुवदेव	,,	अभिमन्यु वध और सुलोचना सती
९. अम्बाप्रसाद	,,	वीर कलंक
१०. कैलाशनाथ वाजपेयी	,,	विश्वामित्र
११. जीवनन्द शर्मा	,,	भीम प्रतिज्ञा

ऐतिहासिक धारा

नीलदेवी नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ऐतिहासिक रचना का भी सूत्रपात किया। इस धारा में अधोलिखित प्रमुख रचनाएँ हैं—

१—राधाकृष्णदास	कृत	पद्मावती और महाराणा प्रताप
२—बैकुण्ठनाथ दुग्गल	,,	श्री हर्ष
३—श्रीनिवासदास	,,	संयोगिता स्वयंवर
४—गोपाल राय	,,	यौवन-योगिनी
५—राधाचरण गोस्वामी	,,	अमरसिंह राठौर
६—बलदेव प्रसाद	,,	मीराबाई
७—सैय्यद शेर अली	,,	कत्ले हकीकतराय
८—गंगाप्रसाद	,,	वीर-जयमाल

इसमें अमरसिंह राठौर और महाराणा प्रताप की रचनाएँ अच्छी और अन्य सभी सामान्य कोटि की हैं।

देश-प्रेम धारा

भारतेन्दु ने भारत-दुर्दशा के द्वारा देश-प्रेम की भावना और राष्ट्रीयता को रङ्गमञ्च प्रदान किया। इस धारा के निम्नलिखित नाटक हैं—

१—शरतकुमार मुकर्जी	कृत	भारतोद्धार
२—खड्गबहादुर मल्ल	,,	भारत आरत
३—अम्बिकादत्त व्यास	,,	भारत सौभाग्य
४—बदरीनाथ प्रेमघन	,,	भारत सौभाग्य
५—दुर्गादत्त	,,	वर्तमान दशा
६—गोपालराम गहमरी	,,	देश दशा नाटक

७—जगतनारायण मिश्र कृत भारत दुर्दिन
८—देवकीनन्दन त्रिपाठी ,, भारत हरण
९—प्रतापनारायण मिश्र ,, भारत दुर्दशा

इन नाटकों में कथा-वस्तु का विस्तार और कलात्मक चरित्र-चित्रण नहीं हुआ है। फिर भी देश की राजनीतिक आर्थिक और असंगठित अवस्था का चित्र अच्छी प्रकार अंकित किया गया है। प्रेमघन की "भारत सौभाग्य" इस विषय की प्रतिनिधि रचना है।

समस्या प्रधान धारा :—

भारतेन्दु की प्रेमजोगिनी से समस्या प्रधान नाटकीय धारा का जन्म हुआ है। इनमें देश, सम्प्रदाय, वर्ग विशेष अथवा समाज-सुधार आदि विषयों की समस्या पर प्रकाश डाला गया है।

इन नाटकों के लेखक अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल नहीं हो सके। यह एक यथार्थवादी रचना है। इस धारा पर आर्यसमाज, राष्ट्रीय जागृति आदि आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। ये नाटक प्रायः सभी एकांकी जैसे हैं। इनमें कथोपकथन और समस्या की प्रधानता है। नाटकीय दृष्टि से इन नाटकों में उपदेश अधिक है और कलात्मकता कम। इस धारा की प्रमुख रचाएँ निम्नलिखित हैं—

१—पं० रूद्रदत्त शर्मा कृत अवला विलाप, पाखण्ड मूर्ति
२—जगन्नाथ भारतीय ,, समुद्रमाला वर्णन
३—राधाकृष्णदास ,, वर्ण-व्यवस्था, दुक्खिनी बाला
४—देवकीनन्दन ,, बाल-विवाह
५—घनश्यामदास ,, वृद्धावस्था विवाह नाटक
६—कामता प्रसाद ,, कन्या-सम्वोधिनी
७—खड्गबहादुर मल्ल ,, भारत-ललना
८—अम्बिकादत्त व्यास ,, गोरक्षा
९—प्रतापनारायण मिश्र ,, गो-वध
१०—शालिग्राम ,, लावण्यवती सुदर्शन
११—सतीशचन्द्र वसु , मैं तुम्हारी ही हूँ
१२—विन्धेश्वरी प्रसाद ,, मिथिलेशकुमारी
१३—किशोरीलाल गोस्वामी,, प्रणयिनी प्रणय और मयंकमञ्जरी
१४—देवीप्रसाद पूर्ण ,, सचन्द्रकला और भानुकुमार

प्रेम-प्रधान धारा

भारतेन्दु का "विद्यासुन्दर" प्रेम-प्रधान नाटक है। यद्यपि इस धारा की रचनाओं में प्रेम के विभिन्न रूप नहीं मिलते हैं। परन्तु फिर भी हिन्दी नाटकों का पथ-प्रदर्शन इसने अवश्य किया है। इस धारा में निम्नलिखित नाटक प्रधान हैं—

१—श्री निवासदास	रणधीर प्रेममोहिनी और तप्ता-संवरण
२—नानकचंद	चन्द्रकला
३—अमनसिंह	मदन मञ्जरी
४—जागेश्वर दयाल	मदन मञ्जरी
५—महादेव प्रसाद	चन्द्रप्रभा
६—श्री कृष्ण	विद्या-विलासिनी

बाल-विवाह, वैवाहिक प्रथा की बुराइयाँ, स्त्री की दीनता, गोरक्षा और गो-वध आदि समस्याओं को लेकर नाटक लिखे गये। ये नाटक अधिकतर सुखान्त हैं। रणधीर प्रेममोहिनी और लावण्यवती सुदर्शन दुखान्त हैं।

इस धारा के नाटकों में कथावस्तु के विकास के लिए घटनाओं का आश्रय अधिक लिया गया है। संस्कृत के प्रतीकवादी 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक की तरह भारत-दुर्दशा नाटक भारतेन्दु ने लिखा। इसी प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी का नाट्य-सम्मेलन भी है। इस में भावों और मानसिक विचारों को प्रधान स्थान दिया गया है।

प्रहसन धारा

भारतेन्दु की यह मौलिक धारा उनकी एक विशेष सम्पत्ति है। नाट्य-शास्त्रों में नाटक के रस की व्याख्या करते हुए हास्य रस को भी स्थान दिया गया है। यह हास्य सदा व्यंग्यात्मक होता है। इसके द्वारा अनेक परिवर्तन दिखाये जा सकते हैं। यह शान्त और गम्भीर अवस्था में ही होना सम्भव है। इसके द्वारा मनोवेगों पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है। भारतेन्दु की रचना के अतिरिक्त मुख्य रचनाएँ ये हैं—

१—देवकीनन्दन त्रिपाठी	रक्षा-बंधन, स्त्री-चरित, एक-एक के तीन-तीन
२—बालकृष्ण भट्ट	शिक्षा-दान
३—प्रतापनारायण मिश्र	कलि कौतुक
४—राधाचरण	बूढ़े मुंह मुंहासे
५—राधाचरण	भङ्ग तरङ्ग
६—किशोरीलाल गोस्वामी	चौपट चपेट

७—गोपालराम गहमरी — दादा और मैं

८—राधाकान्त — देशी कुत्ता विलायती बोल

९—बलदेवप्रसाद मिश्र — लल्ला बाबू आदि

इन नाटको के विषय तो परिहास के लिए उपयुक्त है, किन्तु परिस्थिति आचार-विचार का हास्य उनमें कम है। यह इन प्रहसनों की विशेषता है। भारतेन्दु युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक त्रुटियो का व्यंगात्मक प्रकाशन इनमें बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

अनुवादित नाटक

१. संस्कृत—इस काल मे संस्कृत, अँग्रेजी और बङ्गला नाटको का अनुवाद प्रधान रूप मे हुआ है। संस्कृत के प्रायः सभी अच्छे नाटको का अनुवाद इस युग में हुआ। कुछ प्रधान नाटको की अनुवादित रचनाएँ ये हैं। भवभूति के उत्तर-रामचरित का अनुवाद देवदत्त तिवारी, नन्दलाल, विश्वनाथ दुबे और सीताराम ने किया। 'मालती माधव' का ला० शालिग्राम ने, 'शकुन्तला' का ज्वाला-प्रसाद मिश्र और दुबे जी ने, तथा मालविकाग्निमित्रम् का अनुवाद ला० सीताराम ने अच्छा किया है। इसी प्रकार वेणीसंहार, मृच्छकटिक, रत्नावली और नागानन्दम् आदि नाटको का अनुवाद भी हुआ।

२ बङ्गला— बङ्गला नाटको का अनुवाद सर्वप्रथम 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्रिका मे पद्मावती और शर्मिष्ठा नाम से प्रकाशित हुआ था। ये दोनों बङ्गला नाटक माइकेल मधुसूदनदत्त के है। इसके अतिरिक्त अश्रुमती और सती तथा कृष्णकुमारी और वीर नारी एव सिराजुद्दौला आदि नाटको तथा कुछ प्रहसनों का अनुवाद हुआ। किन्तु ये अनुवाद सफल नही कहे जा सकते। कारण इनकी भाषा में शिथिलता और पद्य मे भी गति का सर्वथा अभाव है।

इस समय बदमिजाज सिवलियन ब्रिटिश नौकर-शाही के नमूने के रूप मे कुछ व्यंग्यात्मक नाटको का अनुवाद हुआ। इसमे उस समय की राजनीतिक और सामाजिक जाग्रति का परिचय मिलता है। कुछ उर्दू प्रधान नाटको का अनुवाद भी प्राप्त होता है।

३. अंग्रेजी—अंगेजी के कुछ नाटको का अनुवाद भी इस काल में हुआ है। विशेष करके शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद किये गये है। सबसे पहले सीताराम जी ने केटोकृतान्त नाटक का अनुवाद कर इस ओर अन्य नाटककारों को प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार 'वेनिस का सौदागर' नामक अनुवाद किया। मथुरा-

प्रसाद ने 'साहमेन्द साहस' के नाम से अनुवाद निकाला और बदरीनारायण ने भी अनेक अनुवाद किया ।

रूपान्तरित

अनुवादित एवं रूपान्तरित नाटकों पर प्रभाव:—भारतेन्दु-युग में संस्कृत बंगला और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद तथा रूपान्तरण अवश्य हुआ। किन्तु उसका प्रभाव अन्य नाटकों की रचना पर बहुत कम पड़ा। केवल अनुवाद की एक परम्परा अवश्य सञ्चालित हो गई। संस्कृत नाटकों के अनुवाद के द्वारा प्राचीन नाटक, साहित्य का परिचय एवं ज्ञान मात्र कराया गया। अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद की अधिकता अवश्य हुई किन्तु उन अनुवादों में भी यथार्थ अनुवादित नाटक नहीं के बराबर ही है ।

बंगला नाटकों के अनुवादित नाटकों में से कुछ नाटक अवश्य अच्छे हैं। किन्तु उसमें भी कोई विशेष प्रभाव लक्षित नहीं होता है। यह हिन्दी के आरम्भिक नाटकों में जो गर्भाङ्क पाया जाता है यह संस्कृत के गर्भाङ्क से भिन्न बंगला नाटकों के प्रमुख गर्भाङ्क के आधार पर हुआ है। यही एक विशेष प्रभाव तत्कालीन नाटकों में हैं। वास्तव में इसका चलन भी आगे चलकर उठ गया।

भारतेन्दु-युग में लोगों की रुचि नवीन साहित्य के पठन-पाठन की ओर हो गई थी तथा नए-नए विषयों के प्रवेश से जन-जाग्रति हो चुकी थी। अतः उस समय के नाटककारों ने भी इन नई प्रेरणाओं से नाना प्रकार की भावनाओं, घटनाओं और समस्याओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया और इनके महत्व का सुन्दर प्रतिपादन किया। इन नाटककारों में अधिकांश व्यक्तियों ने केवल एक ही नाटक लिखा है। किन्तु वही उनकी नाटक रचना की प्रतिभा का उत्तम द्योतक है। प्रायः उस समय के सभी नाटकों में मंगला-चरण, प्रस्तावना तथा भरत वाक्य का रूप मिलता है। आगे चलकर यह रूप भी समस्या प्रधान नाटकों में प्रायः बन्द हो गया। कथावस्तु का विभाजन अंकों और दृश्यों में करके कार्य व्यापार, स्थान और समय के त्रिसमन्वय (संकलनत्रय) को दृढ़ रखा गया। जिन नाटकों में यह संकलनत्रय नहीं हो पाया वे नाटक कथावस्तु की दृष्टि से शिथिल हैं। ऐसे नाटकों में बालकृष्ण भट्ट का दमयन्ती-स्वयंवर और श्रीनिवासदास का संयोगिता-स्वयंवर आदि मुख्य हैं।

कुछ नाटक कथावस्तु के विकास तथा कलात्मक रूप से उत्तम है। ऐसे नाटकों में प्रतापनारायण मिश्र के नाटक प्रसिद्ध हैं।

पात्र—इस काल के नाटकों में प्रत्येक प्रकार के पात्र मिलते हैं। पौराणिक नाटक धारा में ऋषि, मुनि, देवी, देवता आदि पात्र नायक और नायिका के रूप में

तथा अन्य पात्रों के रूप में रखे गये हैं। मनुष्य पात्रों की अधिकता है। राजा, प्रजा, मंत्री, नेता, शिक्षित, मूर्ख, सभ्य, असभ्य, धार्मिक तथा अधार्मिक आदि सभी प्रकार के मानव चरित्र अंकित किये गये हैं। परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल पात्रों का निर्माण हुआ है। इस युग में धर्मार्थ काम और मोक्ष को जीवन-लक्ष्य न मान कर जीवन संघर्ष को विशेष स्थान दिया गया है ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। मानवीय चरित्रों का भी चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है।

स्त्री पत्रों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अच्छा स्थान है। सदियों की पराधीन नारी अपने परतन्त्रता के भाव से विद्रोह करने में प्रयत्नशील नहीं हैं। अतः उनमें प्राचीन परम्परा सौम्यता और कुलीनता की प्रधानता है। नीच स्त्रियों में निर्लज्जता और फूहड़पन है। इस प्रकार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्य-मात्र देव के हाथ की कठपुतली नहीं है। वे स्वावलम्बी हैं। पात्रों में आत्म-विकास और बुद्धिवाद पाया जाता है। रूढ़िवाद का खण्डन करके सामाजिक और जातीय जागरण की प्रधानता है। इनके होते हुए भी चरित्र-चित्रण में एक दोष यह मिलता है कि नाटकों में नाटककार अपने व्यक्तित्व को पात्र से पृथक् न रखकर उनसे मिल गया है।

भारतेन्दु युग के नाटकों में वार्तालाप (कथोपकथन) और भावों तथा विचारों को प्रकट करने की सभी शैलियों का समावेश मिलता है। "स्वगत-कथन" की भरमार, लम्बे चौड़े व्याख्यान और तर्कपूर्ण वाक्य भी अधिक प्रयुक्त हुए हैं। व्यंग तथा शिष्टता का भी प्रयोग हुआ है। सबसे बड़ी विशेषता इस युग के नाटकों में यह है कि भाषा सजीव और सशक्त है। व्रजभाषा तथा खड़ीबोली का मिश्रण कहीं-कहीं अवश्य देखने को मिल जायगा। समस्याओं को सुलझाने और हृदय की भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए सरल हिन्दी का प्रयोग हुआ है। पात्रों के अनुकूल भाषा के प्रयोग से उनमें स्वाभाविकता और मार्मिकता आ गई है। समय-पात्र तथा स्थान के अनुकूल भाषा का सफल प्रयोग हुआ है।

गीतों के अभाव के कारण

यद्यपि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में सुन्दर गीतों को स्थान देकर गीति-काव्य की ओर पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। परन्तु फिर भी उनके बाद के नाटकों में गीतों का अभाव ही पाया जाता है। इन नाटककारों को गीतों की ओर ध्यान न देने के प्रमुख कारण कुछ नीचे दिये जाते हैं—

१—रीतिकाल की प्रतिक्रिया थी। रीतिकाल में कविता की अधिकता के कारण लेखकों का ध्यान गद्य काव्य की ओर अधिक हो गया था।

२—कवियों का मोह ब्रजभाषा से हो गया था। ब्रजभाषा में स्वतन्त्रता का अभाव था। वह विशेष प्रकार से छन्दों में बांधी गई थी। गीति काव्यों का सृजन इस भाषा में तदरूप नहीं हो सकता था।

३—अंग्रेजी सरकार की उर्दू-पक्षपात की नीति ने गजलों को तो सहयोग दिया और हिन्दी-गीतों के प्रति अपनी उदासीनता दिखाई।

४—संगीत विद्या का महत्त्व कम हो गया था। वह बाजारू वेश्याओं की जीविका का विषय बन चुकी थी। जिससे शिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्ति उससे उदासीन हो गये थे।

५—इस समय समस्याओं को उभाड़ने और उनको सुलझाने का कार्य जोरों पर था। इधर समस्या-प्रधान नाटकों में अर्थात् नवीन धारा में इसका बहिष्कार हुआ।

६—गीतों में कल्पना का प्राचुर्य होता है। जबकि इस युग में यथार्थता का विशेष प्रसार हो रहा था।

७—इस समय गीतों का पृथक् से सृजन हो रहा था। यह धारा छायावाद के नाम से अभिहित हुई है।

इन्हीं उक्त कारणों से इस युग में गीति-काव्य को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सका था।

समकालीन रचनाएँ एवं विशेषताएँ

बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट के लिखे छः नाटक माने गये हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

१. **दमयन्ती स्वयंवर**—यह दस अंक का नाटक है। इसके आरम्भ मे नान्दी और फिर सूत्रधार का प्रवेश है। प्रस्तावना के बाद प्रथम अंक का आरम्भ होता है। सम्पूर्ण नाटक में नल-दमयन्ती की पौराणिक कथा है। कथोपकथन में भावुकता है। अन्त में भरत-वाक्य नहीं है।

२. **वेणु संहार**—इसकी कथावस्तु पौराणिक है। इसमें तीन अंक है। नाटक में चारित्रिक विकास का अभाव है। इस नाटक में लेखक का उद्देश्य विदेशी राज्य के स्थापित होने पर भारतीय हृदयों की परतन्त्रता का सजीव चित्रण करना था।

३. **'जैसा काम वैसा परिणाम'**—यह एक प्रहसन है। इसमें व्यभिचार का परिणाम दिखाया गया है। कला की दृष्टि से यह उत्तम नहीं है।

इसके अतिरिक्त पद्मावती,' 'शर्मिष्ठा' और 'चन्द्रसेन' नाटक भी इसी कोटि के हैं। किन्तु उपर्युक्त तीन नाटक ही भट्ट जी के प्रसिद्ध हैं।

भट्ट जी में नाट्य कला की कोई विशेष विशेषता नहीं है। कथावस्तु का विकास भी मनोवैज्ञानिक ढग से नहीं हुआ है। प्रायः कथोपकथन भी बहुत लम्बे हो गये हैं। कथोपकथनों में उपदेश का भण्डार मालूम होता है। इन दोनों के रहते हुए भी भट्ट जी की भाषा प्रौढ़ और अभिव्यजना शक्ति से परिपूर्ण है। मुहावरों के प्रयोग से उसमें रोचकता और प्रभावोत्पादकता आ गई है।

लाला श्रीनिवासदास

इनके लिखे चार नाटक मिलते हैं—१. 'प्रहलाद चरित्र' २. 'रणधीर प्रेम मोहिनी' ३. 'संवरण' और ४. संयोगिता स्वयंवर।

इनमें प्रथम नाटक की कथावस्तु लोक प्रसिद्ध प्रह्लाद सम्बन्धी है। पढ़ने से प्रतीत होता है कि कथावस्तु का विकास नाटक में नहीं हो सका है।

दूसरे नाटक में कथावस्तु का विकास कुछ अवश्य हुआ है किन्तु कला की दृष्टि से यह शिथिल है। इसकी ऐतिहासिक घटनाओं में भी कई असंगत तर्क मिलते हैं।

चौथा नाटक सफल और सुन्दर कहा जा सकता है। यह नाटक हिन्दी का प्रथम दुखान्त नाटक है। इसमें स्वगत भाषण का आधिक्य है। नाटकीय इतिहास की दृष्टि से यह सर्वप्रथम नाटक है।

राधाचरण गोस्वामी

गोस्वामी जी के लिखे तीन नाटक और चार प्रहसन मिलते हैं। (१) 'सती-चन्द्रावती' (२) अमरसिंह राठौर (३) श्रीदामा—ये तीनों नाटक हैं और (१) 'बूढ़े मुंह मुहासे" (२) "तन मन धन-गोसाईं जी-के अर्पन" (३) "भंग-तरंग"। इनके अतिरिक्त एक अनुवाद (४) 'सरोजनी' नाम से भी है।

सती चन्द्रावती—यह एक नाटिका है इसमें सात दृश्य हैं। इस नाटिका में पतिव्रत का आदर्श, धर्म की दृढ़ता, देश भक्ति और समाज की शुभ कामना आदि के भाव हैं। इसमें मुसलमानों की विलास भावना और मुस्लिम धर्म की उन्नति के विचार स्पष्ट लक्षित होते हैं। अन्त में सबकी रक्षा के लिए चन्द्रावती अपने बिछौने में आग लगाकर उसी में भस्म हो जाती है। यह नाटिका दुखान्त है।

अमरसिंह राठौर—यह ऐतिहासिक नाटक है। यह पराक्रमी अमरसिंह के चरित्र को लेकर लिखा गया है। इसने अपनी वीरता से शाहजहाँ के दरबार को

भयभीत कर दिया था और अन्त में मुगलों से घिर जाने पर परिस्थिति को देखकर मुगलों के हाथों में आने की अपेक्षा अर्जुनसिंह को मारने के लिए कहता है और अन्त में अमरसिंह की मृत्यु हुई। इसकी स्त्री सूर्यकुमारी ने भी बड़ी वीरता दिखाई और अन्त में उसी के साथ सती हो जाती है।

श्रीदामा—यह पाँच दृश्यों का छोटा-सा नाटक है। जिसमें सुदामा और कृष्ण की भेंट और उसकी दरिद्रता को दूर करने की कथा है। ये सभी छोटे-छोटे नाटक है, जिन्हें एकांकी नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा। गोस्वामी जी ने कोई पूर्ण नाटक नही लिखा। नाटकों का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। नाटक के आरम्भ में देवी और मानवी व्यक्तियों का प्रवेश प्राचीन नान्दी परम्परा का नवीन विकास है। इन नाटकों में गर्भांक का प्रयोग नहीं हुआ है केवल दृश्यों में ही कथा विभाजित है। प्रवेश, स्थान, स्वागत तथा प्रकट आदि सबका नाटक में निर्देश मिलता है। अमरसिंह राठौर के सम्वाद अधिक प्रभावशाली हैं। इन नाटकों में कई दोष भी है। इनके दृश्य बहुत शीघ्र बदलते हैं। केवल कथा को आगे बढ़ाया गया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया है। पात्रों के विकास में भी कमी है। उपदेश की मात्रा इन नाटकों में अधिक मिलती है।

राधाकृष्णदास

यह भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। इन्होंने अनेक काव्य ग्रन्थों की रचना की है। इनकी नाट्क रचनाएँ निम्नलिखित है—

(१) दुःखनी बाला, (२) महारानी पद्मावती, (३) धर्मालाप, (४) महाराणा प्रतापसिंह, (५) सतीप्रताप।

दुःखनी बाला—यह इन का प्रथम एकांकी नाटक है। इसमें श्यामा का विधवा होना और सहेलियों के कहने से पर पुरुष से सम्बन्ध होना तथा गर्भपात करना, अन्त में विष खाकर प्राण दे देना आदि वर्णित है। लेखक का उद्देश्य उन समाजिक कुरीतियों का प्रदर्शन करना तथा विधवा-विवाह के पक्ष का समर्थन करना है। किन्तु वार्तालाप और कथावस्तु का विकास उत्तम नहीं हुआ है। इस नाटक में छोटे-छोटे छः दृश्य हैं।

महारानी पद्मावती—इस नाटक की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध चित्तौड़ की रानी पद्मावती, अलाउद्दीन का आक्रमण, राजा रतनसिंह का वन्दी होना आदि विस्तृत रूप से वर्णित है। यह छः अंकों में विभाजित है। इस नाटक में स्थान-स्थान पर मुसलमानों का अत्याचार और भारत-दुर्दशा का वर्णन है।

धर्मालाप—इसे नाटक न कह कर वार्तालाप कहना उचित होगा। इसमें भिन्न-भिन्न मत वाले जैसे सनातनी, वेदान्ती, वैरागी, शैव, शाक्त, कौल और वैष्णव तथा दयानन्दी आदि वार्तालाप में लीन है। नाटकीय दृष्टि से इसमें कोई विशेषता नहीं।

महाराणा प्रतापसिंह—यह ऐतिहासिक और कल्पना-प्रधान नाटक है। इसमे उदयपुर के महाराणा प्रतापसिंह की वीरता और अकबर की कुटिल राजनीति का वर्णन है। साथ ही मानसिंह का अपमान, मालती की करुण-ध्वनि, भामाशाह का त्याग आदि का वर्णन उत्तम ढंग से हुआ हैं। नाट्य विधान और कलात्मकता का इसमे क्रमिक विकास हुआ है। इनके प्रथम दोनों नाटकों मे प्रस्तावनाएँ परम्परा के अनुसार है। इनका उद्देश्य संस्कृत नाटक साहित्य की परम्परा को वर्तमान प्रणाली में परिणत करना था। इनके एतिहासिक पात्रों का चित्रण अच्छा हुआ है। यह स्पष्ट और स्वभाविक है। कला की दृष्टि से महाराणा प्रताप नाटक में कुछ दोष अनौचित्य भी हैं। आवश्यकता से अधिक छन्दोवद्ध वर्णन अरोचक हो गया है। समय और गति का समन्वय भी त्रुटिपूर्ण है। अन्त मे यही कहा जा सकता हे कि भारतेन्दु काल के नाटककारों मे राधाकृष्णदास का स्थान सबसे श्रेष्ठ है।

किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामी जी की तीन नाटक रचनाये मिलती है। जिनमें 'मयंक मञ्जरी' और 'नाट्य सम्भव' दो नाटक हैं तथा 'चौपट चपेट' प्रहसन है।

मयंक-मञ्जरी—पाँच अंकों का नाटक है। इसमें प्रेम-कथा का वर्णन है। कथावस्तु का विकास कम है और काव्यत्व की प्रचुरता है। चरित्र-चित्रण में पात्रो के आन्तरिक एवं वाह्य दोनों पक्षों का यथोचित एव प्रभावशाली अंकन किया गया है। चरित्र-चित्रण मे भी लेखकों की सुधार भावनाएँ झलकती है।

नाट्य सम्भव—यह स्वामी जी का दूसरा नाटक है। इसमें संगीत और कविता की प्रधानता है।

चौपट चपेट—एक सुन्दर प्रहसन है।

नाट्य विधान और कलात्मकता

गोस्वामी जी के नाटको के आरम्भ मे प्रस्तावना और अन्त मे भरत-वाक्य दोनो ही मिलते हैं। पुरानी संस्कृत प्रणाली का अनुकरण किया गया है। नाटकीय गुणों की दृष्टि से प्रथम नाटक की अपेक्षा दूसरे 'नाट्य सम्भव' मे अधिक सफलता मिली है। गोस्वामी साहित्यिक व्यक्ति थे। अपने समय की सामाजिक सुधार भावना को लेकर ही नाटक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। अतएव उनका सुधारक रूप नाटकों मे भ देखा जाता है।

: ३ :

संधिकाल के नाटक

राजनैतिक परिस्थितियाँ

इस समय की राजनीतिक परिस्थिति संघर्षमय थी। १३ अक्तूबर सन् १६०५ को लार्ड कर्जन ने बङ्गभङ्ग की आज्ञा निकाली। इसके परिणामस्वरूप देश में एक महान आन्दोलन उठ खडा हुआ। जनता की आवाज अंग्रेज सरकार ने नही सुनी। इससे उसमें घृणा तथा असन्तोष की भावना और जागृत हो गई। इस जन-आन्दोलन से प्रभावित होकर सन् १६०७ ई० मे राष्ट्रीय सस्था 'कांग्रेस' ने १. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, २. स्वदेशी का आन्दोलन और ३. राष्ट्रीय शिक्षा का निकास—इस त्रिमुखी धारा को लेकर आन्दोलन आरम्भ किया। किन्तु दुर्भाग्यवश आपस मे नेताओं के मतभेद हो जाने के कारण गरम दल और नरम दल वाले अपनी-अपनी नीति के प्रसार मे लग गये। इसी विषय को लेकर भट्टजी ने 'हिन्दी-प्रदीप' मे दो तीन दृश्यों का एक लेखबद्ध नाटकीय प्रदर्शन निकाला था। इस समय दादा भाई नौरोजी और तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस एक दृढ संस्था बन गई थी। राजनीतिक दृष्टि से इसे स्वराज्य काल कह सकते हैं।

सन् १६१४ में प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हुआ। अंग्रेजों की प्रार्थना और आश्वासन से राजनीतिक नेताओं (प्रमुख रूप से गाधी जी) ने सहायता का वचन दिया। युद्ध समाप्ति के बाद विजय-गर्वोन्मत्त अंग्रेजो की नीति कुछ और हो गई। स्वराज्य का स्थान "होमरूल" के नारे ने ले लिया और जलियाँवाला बाग का काण्ड देखने को मिला। उस समय मे देश की यही राजनीतिक परिस्थति थी।

नामकरण

देश की राजनीतिक परिस्थति संघर्षमयी थी। उसी समय एक नया आंदोलन राजनीतिक क्षेत्र में उठ खड़ा हुआ। इसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदी (महावीरप्रसाद जी) के नेतृत्व में भाषा का आन्दोलन भी आरम्भ हो गया था। पश्चिमी शिक्षा के कारण भी नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया था। साथ ही भारत सरकार द्वारा स्थापित "प्राचीन शोध और अन्वेपण विभाग" ने भी भारतीय

संस्कृति और साहित्य पर प्रकाश डाला। जिससे प्रभावित होकर लोग अपने प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने की ओर प्रवृत्त हुए।

यह काल भावुकता और बुद्धिवाद का संधिकाल है। इस काल के नाटक साहित्य की उत्पत्ति तथा विकास इन प्रवृत्तियों को लेकर हुआ और उसके कथानक और चरित्र-चित्रण आदि में प्राचीन तथा नवीन समस्याओं का समावेश हुआ। इस काल के नाटक-साहित्य में एक विशेष नवीनता पाई जाती है। वह यह कि पुरानी कथावस्तु को नवीन खड़ीबोली (हिन्दी) के नाटक-साहित्य में उपस्थित किया गया। इस काल की रचनाओं में प्राचीनता के प्रति मोह और नवीनता के प्रति अनुराग दोनों ही मिलते हैं। इसी कारण खड़ीबोली का आन्दोलन प्रचण्ड होने पर भी इस युग में ब्रजभाषा का पूर्ण रूप से बहिष्कार नहीं किया जा सका। अतएव गद्य के स्थान को तो खड़ीबोली ने अवश्य ग्रहण कर लिया परन्तु पद्य अब भी ब्रजभाषा में लिखा जाता था। इस काल के नाटकों में दोनों युगों की सन्धि मिलती है। अतः इसे सन्धिकाल कहते हैं। इस काल के प्रारम्भिक नाटककार बदरीनाथ भट्ट हैं।

प्रमुख धाराएँ एवं नाटकीय रचनाएँ

इस काल में प्राचीन तथा नवीन दोनों ही धारायें मिलती है। प्राचीन धारायें निम्नलिखित हैं—

१—राम, २—कृष्ण, ३—पौराणिक तथा ४—ऐतिहासिक।

राम धारा

इस धारा में छः नाटक मिलते हैं—१. जनक बाड़ा २. राम लीला ३. रामाभिषेक ४. रामवन-यात्रा ५. रामलीला नाटक और ६. धनुषयज्ञ लीला। इन नाटकों में राम का पौराणिक चरित्र ही चित्रित हुआ है। इनमें देवत्व और ईश्वरत्व की प्रधानता है। इस धारा मे गीति काव्य का प्रयोग इतना अधिक हो गया है कि जिससे उसमें अरोचकता आ गई है। राम और सीता भी गीत गाते हैं। नाटकों में पारसी रंगमंच का प्रभाव लक्षित होता है।

कृष्ण-धारा

इस धारा मे धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर नाटक लिखे गये हैं। प्रमुख नाटक रचनायें निम्नलिखित हैं—

१. सुदामा, २. कंस-वध ३. उद्धव।

इनमें नाटकीय कला की दृष्टि से कोई उत्तमता नहीं है। केवल कृष्ण-चरित सम्बन्धी रंगमंचीय नाटकों के लिए परम्परा का पालन-मात्र हुआ है।

पौराणिक धारा

इस धारा के प्रमुख नाटक ये हैं—(१) नल-दमयन्ती, (२) अभिमन्यु वध (३) नल-चरित, (४) राजा हरिश्चन्द्र, (५) सावित्री नाटिका, (३) शिवा-शिव (७) उर्वशी, (८) शकुन्तला, (९) करुणालय, (१०) कुरूवन-दहन, (११) सती-दहन।

प्राय: सभी नाटक सामान्य कोटि के है। प्रसाद जी का 'करुणालय' और बदरीनाथ भट्ट का कुरूवन-दहन नाटक उत्तम है।

ऐतिहासिक धारा

इस धारा में प्रमुख रचनायें निम्नलिखित है—

(१) पुरु-विकास, (२) सेनापति उदाल, (३) वीर सरदार, (४) चन्द्रगुप्त (५) तुलसीदास और (६) पन्ना। इस धारा के नाटकों में नवीनता पाई जाती है। साहित्यिक और रंगमंचीय एकता को इन नाटकों मे उपस्थित किया गया हैं।

समस्या-प्रधान नाटकों की धारा

इस धारा में सामाजिक और देश प्रेम की समस्याओं का एकीकरण हुआ हैं। इसमे पूर्व इन दोनों के पृथक्-पृथक् रूप मिलते है। राजनीतिक समस्याओ पर भी प्रकाश डाला गया हैं। इसकी प्रमुख रचनायें ये है—

(१) वृद्ध-विवाह नाटक, (२) भूषण दूषण, (३) भरत विजय, (४) दुखिया (५) प्रेम-परीक्षा, (६) मस्त रहस्य, (७) साहित्य सेवा, (८) नेत्रोन्मीलन आदि।

इनमें 'नेत्रोन्मीलन' सबसे उत्तम नाटक है। इसके पात्र हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। इसमें सरकारी अदालतों का दृश्य है। इस काल के हिन्दी नाटकों में पुरातनता और नूतनता का मेल मिलता हैं। इस धारा का विकास आधुनिक समय में बड़े वेग से हो रहा है। इसके लेखकों ने प्राचीन सभी मान्यताओं का खण्डन एक स्वर से किया तथा पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होने के कारण उसी रंग में रंगने का यत्न किया है। इससे नाटकों में यथार्थता एवं औचित्य का स्वरूप अधिक उभर सका है तथा समस्या के समाधान से दृष्टि हटकर उसके उभारने में अधिक लग गई।

प्रेम-प्रधान धारा

इस धारा के नाटक निम्निलिखित हैं :—

१. रूपवती, २. कामिनी कुसुम, ३. कामिनी मदन, ४. रत्न सरोज।

कला की दृष्टि से इनका कोई महत्व नही है। बद्रीनाथ भट्ट का 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' प्रहसन अच्छा है।

अनुवाद

सन्धि-काल में संस्कृत, अंगरेजी तथा बंगला के कुछ नाटकों के अनुवाद भी मिलते हैं।

संस्कृत—सत्यनारायण कविरत्न कृत "उत्तररामचरित," लाला सीताराम बी० ए० का "मृच्छकटिक", सदानन्द अवस्थी का "नागानन्दम्" प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेजी—शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद ला० सीताराम ने किया। मनमोहन का "जाल", "भूल भूलैया" "हैमलेट" "मेकबैथ" आदि प्रसिद्ध हैं।

बंगला—बँगला के नाटकों का भी अनुवाद हुआ। उनमें बूढ़ा वर, सप्तम प्रतिमा आदि प्रमुख हैं। ये अनुवाद सफल होते हुए भी हिन्दी नाटक साहित्य पर उनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता है।

आलोच्य काल के लेखकों का लक्ष्य विभिन्न धाराओं के समावेश की ओर था। साहित्यिक और रंगमंचीय एकता उत्पन्न करना तथा संस्कृत और अंग्रेजी में समन्वय की स्थापना, रंगमंच की सुधार भावना आदि सभी कुछ लक्षित होते हैं।

संधिकाल की विशेषता

भाषा, भाव, विज्ञान और विषय की दृष्टि से समस्त नाटक साहित्य सन्धिकाल का साहित्य कहा जा सकता है। यद्यपि सन्धिकाल में उच्च-कोटि की नाटक रचना नहीं हुई, किन्तु फिर भी आगे नाटककारों के लिए प्रशस्त मार्ग खोलकर नाटक-साहित्य की रचना की परम्परा जीवित रखने के लिए कोई कम श्लाघनीय कार्य नहीं हुआ है।

: ४ :

रंगमंच एवं रंगमंचीय नाटक

संस्कृत का रंगमंच

नाटक और रंगमंच का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। नाटक का दृश्य काव्यत्व तभी सार्थक हो सकता है जबकि वह रंगमंच पर अभिनीत हो ! अन्यथा जो नाटक केवल साहित्यिक दृष्टि से उत्तम है परन्तु उनका अभिनय नहीं किया जा सकता वे वस्तुतः दृश्य काव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। इसमे सन्देह नहीं कि हिन्दी के अधिकांश नाटक रंगमंच की दृष्टि से नहीं लिखे गये, किन्तु संस्कृत नाटकों के विषय में यह ज्ञात होना चाहिये कि संस्कृत के प्रायः सभी नाटकों का जिनमें "उत्तर रामचरित" एवं "वेणी संहार" जैसे क्लिष्ट नाटकों का भी रंगमंच पर अभिनय हुआ, यह उसकी प्रस्तावना से स्पष्ट है। हिन्दी रंगमंच का विकास और उसके वर्तमान रूप को जानने के लिए संस्कृत रंगमंच का ज्ञान आवश्यक है। संस्कृत नाटक शास्त्र के आचार्यों ने रंगमंच के विषय पर गहन विचार किया है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त अभिनवगुप्त और 'शंकु' प्रभृति अर्भक आचार्यों ने इस विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण लक्षण-ग्रन्थ लिखे हैं।

भरतमुनि ने तीन प्रकार के नाट्य गृहों (रंगशालाओं) का वंणन किया हे।

१. विकृष्ट—जिसकी लम्बाई चौड़ाई से दुगनी हो।

२. चतुरस्र—जिसकी लम्बाई और चौड़ाई बराबर हो।

३. त्र्यस्र—यह त्रिकोण होता है।

विकृष्ट

चतुरस्र

त्र्यस्र

इन तीनों प्रकार के नाट्य गृहों में प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ नाम से तीन-तीन भेद हैं। प्रत्येक नाट्य गृह की उपयोगिता का उल्लेख भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ में किया है।

संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि इन तीन प्रकार के रंगमंचों में 'विकृष्ट' ही सबसे अधिक काम में आता था और इसी से हिन्दी रंगमंच का सीधा सम्वन्ध है।

"विकृष्ट रंगमंच" की लम्बाई चौड़ाई से दुगनी होती थी। उसके दो भाग होते थे। एक (क) भाग अभिनय के लिए होता था और (ख) भाग दर्शक मंडली के लिए होता था।

(क) भाग के दो और भाग होते थे। सबसे पिछले भाग को 'नपथ्य' कहते थे। इसी में नाटक के पात्र अपनी वेश-भूषा को वदलते थे। यहाँ से और भी कई प्रकार के कार्य किए जाते थे। जैसे :—सन्देश देना या शोर-गुल मचाना आदि।

'नैपथ्य' के आगे रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच एक पर्दा रहता था। रंगशीर्ष रंगपीठ से कुछ ऊंचा रहता था। नाटक के विशेप अभिनय रंगशीर्ष में होते थे। इसमें अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र सजे होते थे। 'नैपथ्य' रंगशीर्ष से थोड़ा नीचा रहता था। 'रंगपीठ' में अर्थात् पर्दे के अगले भाग में नृत्य-गान आदि किया जाता था। सूत्र-धार नाटकीय कथावस्तु की अथवा अन्य सूचनायें यहीं से देता था। संगीतज्ञों के वैठने का स्थान भी नियत होता था।

क	नैपथ्य	
	रङ्गशीर्ष	
ख	रङ्गपीठ	यवनिका
	दर्शक	

नाट्य-कला मे भारतवासियों ने वडी उन्नति की थी। भरतमुनि ने नाट्यशाला के कार्यकर्त्ताओं का विभाजन निम्न प्रकार से किया है—

१. भरत—नाट्य संस्था का संचालन।
२. सूत्रधार—निर्देशक
३. नट—अभिनय की तैयारी करानेवाला या रिहर्सल का अधिपति।
४. तौरिय—संगीत का अधिपति।
५. वेषकर—वेशभूपा सजाने वाला।

६. मुकुट कृत—सिर पर पहनने के सब प्रकार के मुकुट बनाने वाला ।

७. आभरण कृत—सब प्रकार के नाटकोपयोगी आभूषण (गहने) बनाने वाला ।

८. माल्य कृत—नाटकोपयोगी माला बनाने वाला ।

९. चित्रज्ञ—पर्दे आदि को चित्रित करने वाला ।

१०. रजक—धोबी और रंगरेज दोनों का काम करने वाला है ।

उक्त प्रकार से संस्कृत रंगमंच का विकसित रूप ज्ञात होता है। वर्तमान समय की प्रायः सभी विशेषताएँ और सुविधाएँ संस्कृत रंगमंच को प्राप्त थीं ।

पारसी रंगमंच

पारसी रंगमंच कोई स्थायी रंगमंच नहीं था । इसका लक्ष्य अधिक से अधिक धन उपार्जन करना था । यह रंगमंच व्यवसायी कम्पनियों के हाथ में था। अतः रंगमंच की उत्तमता की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया । पहली पारसी रंगमंच कम्पनी १८७० ई० में 'बम्बई' में वर्तमान थी । ये कम्पनियाँ भारत के अनेक नगरों में जाकर अपने नाटकों का प्रदर्शन करके धन एकत्रित करने में लगी हुई थीं । इनका रंगमंच इनके साथ चलता था ।

पारसी रंगमंच कोई एक चतुर्भुज क्षेत्र होता है । इसकी लम्बाई और चौड़ाई कम्पनी के परदे के अनुसार होती थी । यह चारों ओर से ढका रहता था । इसमें संस्कृत रंगमंच जैसे विभाग नहीं होते थे । संगीत का प्रबन्ध रंगमंच के आगे प्रेक्षागृह के दर्शकों के बैठने के स्थान के अगले भाग में होता था । प्रेक्षागृह की बनावट ऐसी थी जिससे उसमें बैठने वाले सभी दर्शक अच्छी तरह नाटक देख सकते थे ।

रंगमंच पर अधिक आकर्षण, या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का भी प्रयोग होता था । इसके लिए पारसी कम्पनियाँ खूब धन खर्च करती थीं, जिससे नाटक की सजीवता और प्रभाव में कोई न्यूनता न रह जाए ।

पारसी रङ्गमञ्च ने यह सिद्ध कर दिया कि नाटक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही रङ्गमंच है, रङ्गमंच की पूर्ति के लिए नाटकों का कोई महत्त्व नहीं है। यही विचार प्रसाद जी का था । जिस समय प्रसाद जी के नाटकों पर यह दोपारोपण किया गया कि वे रङ्गमंच के उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनको रङ्गमंच पर खेलने के लिए रङ्गमंच-कुशलता, पर्याप्त धन-राशि आदि सामग्री चाहिए ? इन आरोपों का उत्तर प्रसाद जी ने यही दिया कि रङ्गमंच का महत्व नाटकों से है । अतः रङ्गमंच को नाटकों के उपयुक्त ही गढ़ना पड़ेगा ।

पारसी रङ्गमञ्च का प्रभाव हिन्दी रङ्गमञ्च पर पड़ा और उसी के अनुकरण

पर अव्यवसायिक नाटक मण्डलियों का जन्म हुआ। बहुत सम्भव था कि हिन्दी रङ्गमञ्च कोई स्थायी रूप धारण करता किन्तु सिनेमा के प्रचार एवं प्रसार ने और देश की अन्य परिस्थितियों ने अभी तक इसे स्थायी नहीं होने दिया। इसे हम आश्चर्य अवश्य कह सकते हैं, क्योंकि अन्य देशों मे सिनेमा मच के साथ ही साथ नाटक रङ्गमंच काफी लोकप्रिय है। किन्तु यह याद रहे नाटक का अपना महत्व है। आज के युग मे चलचित्र का महत्व अत्यधिक होने पर भी नाटक का महत्त्व कम नहीं हुआ है। इस बात का प्रमाण यह है कि आज भी बड़े-बड़े नगरों मे आए दिन नाटक-मण्डलियाँ नाटक खेलकर लोक-प्रसिद्धि प्राप्त करती है। और तो और चल-चित्रों के कलाकारों की रुचि केवल चलचित्रों मे काम करने की ही नहीं है वरन् जीते-जागते रङ्गमञ्च पर अपनी प्रतिभा दर्शाने के लिए उत्सुक रहती है। पृथ्वीराज की नाट्य-मण्डली आज भी ख्याति प्राप्त कर रही है

जन रंगमंच

इसका स्वरुप भिन्न-भिन्न स्थानों पर यही है कि यह वहाँ अवश्यकता के अनुकूल होती हैं। और भाषा के अनुसार रामलीलाओं के रंगमंच का निर्माण भी भिन्न प्रकार से होता है। काशी, कानपुर आदि प्रसिद्ध नगरो मे रामलीला के लिए बहुत दिनों से रगमच निर्धारित हे। यह रामलीला एक दिन और रात्रि मे समाप्त नही हो जाती थी। इसके समाप्त होने मे १० या १५ दिन तक लग जाते है।

कुछ स्थानो पर वनवास से पहले की लीला नाटक के ढङ्ग पर होती है और बाद की लीला खुले और विस्तृत स्थानो मे स्वाग बनाकर की जाती हे। इसमे थोडा-सा रगमंच का प्रदर्शन भी होता हे। परन्तु अधिकाश पात्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमकर अपनी क्रियाओ को दिखाते है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के परदे उस कार्य को पूर्ण करने का यत्न करते ह। उनके साथ रहने वाले कथावाचक पंडित उत्सुक जनता को कुछ स्थिति का ज्ञान कराते रहते ह।

रासलीला का सवसे अच्छा प्रदर्शन मथुरा मे होता है। यहाँ से रास-मंडलियाँ वाहर दूसरे नगरो में जाकर साधारण रगमच पर अपने रास दिखाती है।

सांगीत—सागीत मे तख्तो का एक ऊँचा रगमंच वनाकर उसके चारो ओर वाँसों से एक घेरा वना लिया जाता है। सवमे आगे एक या दो पर्दे डाल दिये जाते हैं। पात्रो का प्रवेश, प्रस्थान, सम्वाद, गाना; नाचना, सव रगमंच पर दर्शको के सामने खुले मे होता है और दर्शक मण्डली इस मञ्च के तीन ओर वैठ जाती है। जन रंगमंच के यही रूप हे।

सिनेमा और रगमच के विषय मे इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

आजकल रंगमंच का स्थान सिनेमा ने ले लिया है। लोगों के मनोरंजन के साधनों में सबसे बड़ा साधन सिनेमा है। यह बात सत्य है कि सिनेमा में वास्तविक वातावरण को दिखाने में जो सुविधायें है वे रंगमंच पर नहीं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं जैसे दौड़ती हुई रेलें, हवाई जहाज, समुद्र में उठती हुई लहरें, उन लहरों के साथ अठखेलियाँ करती हुई चन्द्र कलायें, बादल की छाया में छिपते हुए चाँद-सूर्य, युद्ध का दृश्य, वन उपवन, पर्वतीय दृश्य आदि के शुद्ध वातावरण रगमंच पर नहीं दिखाये जा सकते किन्तु सिनेमा में यह असम्भव दृश्य सम्भव बन कर उपस्थित हो जाते हैं। नाटक में रंगमंच की सामग्री को भिन्न-भिन्न स्थान मे ले जाने के लिए ढोना पड़ता है जिसमें बड़ी कठिनाई होती है। किन्तु सिनेमा में यह बात नही होती। उसमें एक ही जगह सब सामग्री इकट्ठी रहती है।

सिनेमा में इन गुणों के होते हुए भी इसमें रंगमंच की अपेक्षा कुछ त्रुटियाँ हैं।

(१) रंगमंच या नाटक, वास्तविक घटनाओं की नकल है तो सिनेमा नकल की नकल है। सिनेमा छाया-चित्र है।

(२) सिनेमा के पात्रों का प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों का धन्यवाद प्राप्त नहीं होता है। किन्तु इसके विपरीत रंगमंच के अभिनेताओं को अपनी दर्शक-मण्डली से सम्मान प्राप्त होता है।

(३) सिनेमा में जो त्रुटि अभिनय या साहित्य की दृष्टि से हो जाती है वह पत्थर की लकीर के समान हो जाती है। उसका संशोधन करना अधिक कठिन हो जाता है। किन्तु नाटक की त्रुटियाँ रंगमंच पर अभिनेताओं के द्वारा ठीक कर ली जाती है।

(४) सिनेमा के अभिनय में नवीनता बार-बार नही लाई जा सकती, किन्तु रंगमंच में ये परिवर्तन सुविधापूर्वक हो जाते हैं। इसको देखते हुए रंगमंच का महत्त्व आज भी अधिक प्रतीत होता है।

हिन्दी रंगमंच

रंगमंचीय दृष्टि से नाटक के तीन भाग हैं—१. साहित्यक नाटक, २. रंगमंचीय नाटक और ३. रेडियो नाटक। पूर्व अध्यायों में साहित्यक नाटकों के कुछ पक्षों पर ही प्रकाश डाला गया है। गीति-नाट्य, समस्या नाटक आदि विषय अपने आप मे एक पृथक सत्ता रखते हैं। अतः इनका उल्लेख भी पृथक से किया जाएगा।

रंगमंचीय नाटकों का आज के युग में अभाव-सा हो रहा है। इसका एक-मात्र कारण रेडियो और सिनेपट है। इन दोनों ने रंगमंचीय तत्वों की अपेक्षा को अनावश्यक समझा। यही कारण है कि आज के युग में रेडियो, नाटक और सिनेमा के

लिए नाटकों की रचना का प्राबल्य है। आज के नाटककार नाटकों को दृश्य न बनाकर श्रव्य ही बनाते है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वे स्वयं जब कभी रंगमंचीय नाटको का अभिनय नही देखते तो रंगमंच के तत्वों से उनका अपरिचित होना स्वाभाविक ही है।

इस विषय मे विशेष रूप से यह स्मरण रखना चाहिये कि नाटक साहित्य का एक अंग है। उसकी पूर्ण साहित्यकता के लिए उसमे (नाटक) साहित्यक और रंगमंचीय (अभिनय) इन दोनो गुणो का होना अनिवार्य है अन्यथा एक गुण के अभाव में वह पूर्ण साहित्य पद को प्राप्त करने का अधिकारी नही है, केवल पाठ्य साहित्यक नाटक मात्र से नाट्य साहित्य की श्रीवृद्धि भी नही हो सकती। अतः हमने यहाँ नाटक-साहित्य के दोनों भागो का पूर्ण विवरण देने का प्रयास किया है।

हिन्दी रंगमंच यह शब्द केवल पुस्तकों में ही पाया जाता है। इसका कोई साकार या क्रियात्मक रूप अब तक स्थापित नही हो सका है। हिन्दी रंगमंच के नाम पर जो भी नाटक खेले गये या उसके लिये लिखे गये वह नाटक साहित्य का इतिहास न होकर केवल नाटक मंडलियों का इतिहास है। ये नाटक मंडलियाँ दो प्रकार की थी— व्यवसायी और अव्यवसायी अर्थात् उद्योगी (व्यापारी) और प्रचारक। इन दोनों में से किसी की भी स्थायी रंगमंच या प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) नही था। केवल अभिनय नाटक खेलने के समय रगमंच का निर्माण कर लिया जाता था।

हिन्दी नाटकों का अभिनय जिस रगमंच पर प्रथम आरम्भ हुआ था। वह अपनी परम्परा से प्राप्त संस्कृत रंगमंच से सम्बन्धित या प्रभावित नही था। उस रगमंच मे अंग्रेजी रंगमंच का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यद्यपि रगमच के तत्व नैपथ्य, रंगशाला, नाट्यशाला और प्रेक्षागृह आदि का मूल तत्व संस्कृत और अंग्रेजी दोनों में न्यूनाधिक रूप मे कुछ समानता पाई जाती है फिर भी पश्चिमी रंगमंच का वातावरण वाह्य रूप मे स्पष्ट हे।

भारत मे अंग्रेजी राज्य प्रथम वगाल मे स्थापित हुआ था। राज्य स्थापना के साथ ही अपने आमोद-प्रमोद तथा साहित्यक मनोरजन के लिए अंग्रेज अपने पारिवारिक (घरेलू) क्षेत्र मे अपने अंग्रेजी नाटकों का अभिनय रंगमंच पर खेला करते थे। यह अभिनय नाटक सबसे पहले खेले गये। इन नाटकों का प्रभाव भावुक बंगालियों पर भी पड़ा और उन्होने वगला मे कुछ नाटको को रूपान्तरित करके अपने बंगला रंगमंच पर खेलना आरम्भ किया।

बंगालियों ने अपनी एक व्यवसायी नाटक मंडली बनाई और उस मंडली के

द्वारा बंगला नाटकों का अभिनय होने लगा, इससे नाटक लेखकों को प्रोत्साहन मिला और बंगला भाषा में अनेक रंगमंचीय नाटक लिखे गये। परन्तु हिन्दी रंग-मंच अपने पड़ोसी बंगला रंगमंच से भिन्न है। इसका आरम्भ भी बंगला रंगमंच के समान ही स्वतन्त्र रूप से अंग्रेजी से हुआ है।

हिन्दी का सर्वप्रथम रंगमंच लखनऊ के केसरवाग का रंगमंच है। जिस पर 'इन्दर सभा' नाटक खेला गया था। इसके पश्चात बनारस में 'जानकी-मंगल' खेला गया। उसके बाद रंगमच का प्रधान केन्द्र बम्बई बना और आज भी बम्बई चित्रपट (सिनेमा) आदि का प्रधान रंगमंचीय केन्द्र है।

हिन्दी रंगमंच का आदि रूप अब भी पारसी रंगमंच में मिलता है। यही हिन्दी रंगमंच का जन्म और विकास है।

व्यवसायी नाटक मंडलियों का इतिहास

व्यवसायी वर्ग की नाटक मण्डलियों में सर्वप्रथम पारसी नाटक मण्डली है। इसका निर्माण उस समय हुआ जिस समय भारतीय जनता पर अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव पड़ रहा था और उससे लोग प्रभावित हो रहे थे। बुद्धिमान, धनी पारसियों ने व्यवसायिक रूप से सबसे पहले लगभग सन् १८७० में बम्बई में नाटक कम्पनी खोली। इसके अध्यक्ष थे सेठ पेस्टन फ्राम जी। ये इस कम्पनी के प्रमुख अभिनेता भी थे। पारनीस, खुरशेद जी वल्ली वाला नाटक लेखक थे। मोहम्मद मियाँ 'रौनक' बनारसी और हुसेन मियाँ (जरीफ) रौनक का लिखा हुआ नाटक इन्साफे महमूद शाह बहुत प्रसिद्ध है।

जरीफ के लिखे हुए २० नाटक मिलते हैं। जिनमें खुदा दोस्त, चांद बीबी, और लैला मजनूँ आदि प्रसिद्ध हैं।

पेस्टन जी की मृत्यु के पश्चात् सन् १८७७ में खुरशेद जी वल्ली वाला ने अपनी पृथक कम्पनी देहली में खोली। यह अभिनेता भी अच्छे थे और उनकी कम्पनी में मिस खुरशीद और मिस मेहताव तथा एक अंग्रेज महिला मैरी फेस्टन अच्छी नर्तकियाँ थीं। इस कम्पनी के नाटककार मुन्शी विनायक प्रसाद ने उर्दू तथा हिन्दी के अनेक नाटक लिखे, जिनका रंगमंच पर अभिनय अच्छी तरह से हुआ। इनके हिन्दी नाटक ये हैं—हरिश्चन्द्र, रामायण, कनक तारा, आदि।

लगभग इसी समय सन् १८७७ में कावस जी खटाऊ ने भी अपनी एक नाटक कम्पनी स्थापित की। इनकी कम्पनी में प्रमुख अभिनेता थे—मनछेर जी और अभिनेत्रियाँ मिस जोहरा और मिस गौहर थीं।

खटाऊ की मृत्यु के पीछे इस कम्पनी को मि० मदन ने खरीद लिया और उन्होंने इसे चलाया। इसके प्रमुख नाटककार थे—लखनऊ के सैयद मेंहदी हसन और देहली के पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'। हसन के मौलिक अनुवादित और रूपान्तरित तीनों प्रकार के नाटक मिलते हैं। चन्द्रावली, गुलबकावली, दिलफरोश आदि इनकी प्रसिद्ध नाटक रचनाएं हैं। पं० बेताब जी के नाटक हैं—महाभारत, रामायण, पत्नी प्रताप आदि।

इसके बाद मोहम्मद अली नाखुदा और सोहराब ने चौथी कम्पनी नाम की अलग एक कम्पनी चलाई। सोहराब जी कम्पनी संचालक एक सफल अभिनेता भी थे। कम्पनी के नाटक लेखक थे—आगा मोहम्मद "हश्र' काश्मीरी, पं० राधेश्याम 'कथावाचक'। हश्र के करीब १२ नाटक उर्दू के हैं।

हिन्दी में भी इनकी नाटक रचनायें मिलती हैं। सूरदास, गङ्गावतरण, वनदेवी आदि पं० राधेश्याम जी के नाटक हैं। 'अभिमन्यु' नाटक बहुत ही लोकप्रिय रहा है। इस समय तक पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों की बाढ़-सी आ गई। किन्तु इन कम्पनियों में अलैक्जेंड्रिया कम्पनी ने राष्ट्रीय (वतन) नाटक खेला था। जिसके कारण इसे सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा और दण्ड भुगतना पड़ा था।

इन पारसी कम्पनियों के अतिरिक्त भारतीय अन्य व्यवसायियों ने भी दो कम्पनियाँ चलाई थीं—

१. काठियावाड़ की श्री सूर विजय, २. मेरठ की व्याकुल भारत मण्डली।

इसके रंगमंच पर भी पारसीपन का पूरा प्रभाव छाया हुआ था। पारसीपन एवं अमर्यादित दृश्यों के आने के अनेक कारण थे। जनता में इस समय सुरुचि का अभाव था। अन्य कम्पनियों इस ओर बेधड़क कार्य कर रही थीं। इससे जनता की रुचि सस्ती पड़ गई थी। श्री जयशंकरप्रसाद ने अपने नाटकों पर लगाये गए आरोपों का खण्डन बड़े सबल शब्दों में किया। उनका कहना है कि मैंने नाटक तांगेवाले, रिक्शा वालों के लिए नहीं लिखे। मेरे नाटकों की समानता आगाहश्र जैसे नाटककारों से नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य केवल कुरुचि का प्रसार करना था। इसी लिए सस्ते पैसों पर जनता का सस्ता-सा मनोरंजन होता है। किन्तु फिर भी हम कह सकते है कि उन्होंने हिन्दी नाटकों का प्रचार किया और आगे अमर्यादित कुरुचिपूर्ण पारसी दृश्य को दूर करने का यत्न जारी रहा।

राधेश्याम का उषा-अनिरुद्ध नाटक विजय मंडली के सफल नाटकों में से था। व्याकुल मंडली के भी बुद्धदेव जनेश्वर प्रसाद 'मायल' का चन्द्रगुप्त आदि

सफल नाटक थे। इस मंडली को हिन्दी विद्वानों का सहयोग भी प्राप्त था।

भारतेन्दु नाटक मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता डा० वीरेन्द्रनाथदास, कुंवर कृष्ण कौल और केशवदास टंडन प्रभृति अपना पूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे थे। व्यवसायी नाटक मंडलियों का यही क्रमिक इतिहास है।

नाट्य-विधान

इन व्यवसायी कम्पनी वालों का एक मात्र लक्ष्य धन कमाना था। अतः प्रायः सबों की एक-सी नाटक रचना है। इनमें केवल लागों को आर्कपित करने के लिये चमत्कारिक कथा होती थी। उसका भी परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था। केवल जादू की पिटारी के समान रंगमच पर पात्रों का अभिनय होता था। उसमें भाव भाषा और रस भावना आदि पर कुछ भी ध्यान नही दिया गया था। स्थान 'समय' दृश्य आदि जो कुछ भी नाट्य सामग्री है वह केवल रंगमंच की ऊपर चटक मटक और वेशभूषा की नवीनता में सीमित था। हम कह सकते है कि नाटक का शरीर का रंगमंच तो था पर आत्मा उसमें न थी। अतः वह नाट्य-विधान निष्प्राण ही था। केवल दर्शक-मंडली इन अद्भुत दृश्यों को देखकर चकित और मन मुग्ध हो जाती थी।

इन कम्पनियों के नाटकों की कथावस्तु अधिकतर पौराणिक और धार्मिक ही होती थी, क्योंकि हिन्दू जनता में ऐसे नाटक ही चल सकते थे, जैसे 'गंगा-वतरण, 'गणेश-जन्म' आदि

सामाजिक सुधारों की दृष्टि से भी कुछ नाटक लिखे गये थे। ऐसे नाटकों में व्यंग्य की मात्रा अधिक होती थी। पात्रों के संवाद अधिकतर पद्यों और गीतों में प्राप्त होते हैं। ये गीत कोई गीति-काव्य नहीं केवल तुकबन्दी मात्र होते थे। कुछ उर्दू गजलें भी मिलती हैं।

नाटकों के आरम्भ में प्रायः कोरस सहगान होता था। व्यवसायी होने के कारण इनके नाटकों में उर्दू, फारसी, हिन्दी आदि सभी मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। कहीं उर्दू की पुट तो कही हिन्दी की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इसका अपना सौन्दर्य था जैसे, अलग रहे न दूध से मिसरी, डली डली दूध मेंघुली हो।

इन कम्पनियों के नाटकों में एक प्रहसन अवश्य रहता था किन्तु उसका मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। इस प्रकार के प्रहसन के दो कारण होते थे। प्रथम दर्शकों के भावों को बदलने के लिये तो दूसरा पात्रों को नये-नये दृश्य, वेष-भूषा आदि के बदलने के लिए समय मिल जाता था। कलात्मकता की दृष्टि से भी यह प्रहसन भद्दे थे। इन दृश्यों से सभ्य लोगों को कुरुचि उत्पन्न हो गई और लोग फारसी कम्पनी से उदास होने लग गये थे।

कुछ दिनों के पश्चात पं० राधेश्याम तथा आगाहश्र ने प्रहसनों को मूल कथा से सम्बद्ध कर दिया। इससे पारसी नाटकों का उद्धार हुआ। व्यंग्य, हास्य आदि के द्वारा नाटकों में यथार्थता आ गई जिससे नाटक लोकप्रिय होने लग गये।

इन कम्पनियों के नाटकों के प्रचार से भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का खूब गला घोंटा गया। परन्तु फिर भी इन कम्पनियों से आश्रय पाकर हिन्दी नाटककारों ने हिन्दी में जो कुछ भी नाटक लिखे, उनके द्वारा जनता को हिन्दी नाटकों के प्रति रुचि उत्पन्न हुई तथा उन्ही रचनाओं के परिणाम स्वरूप आगे चलकर शुद्ध रंगमंच नाटकों की रचना में भी सहायता मिली। अतः ये कम्पनियाँ हिन्दी नाटक तथा रंगमंचीय परम्परा को बनाये रखने में सहायक ही सिद्ध हुई है।

प्रमुख नाटककार

आगाहश्र काश्मीरी—इनका जन्म अमृतसर में हुआ था। परन्तु वे अपने परिवार के साथ बनारस मे रहते थे और वही उनका व्यापार चलता था। आप एक नाटककार और सफल अभिनेता भी थे। इन्होंने सबसे प्रथम 'न्यू अल्फ्रेड' कम्पनी के लिए उर्दू में लगभग १३ नाटक लिखे थे।

जिनमे से कुछ शेक्सपियर के नाटको के रूपान्तर है। इनमें 'दिल फरोश,' 'शहीदेनाज,' 'सैदे हविश' और 'सफेद खून' आदि प्रसिद्ध है। इन नाटकों में पात्रों, घटनाओं तथा उनके क्रम और साधनों में परिवर्तन मिलता है। आगाहश्र ने हिन्दी में दस नाटक लिखे हैं। जिनमे सूरदास, गङ्गावतरण, सीता-वनवास, श्रवणकुमार और भीष्म-प्रतिज्ञा आदि मिलते हे। इन नाटकों की भाषा में साहित्यिकता न होने पर भो बड़ी शक्ति है तथा कही भी शिथिलता नही है।

इनके पात्र सामान्य कोटि के होते हुए भी आदर्श की सीमा में पहुँच जाते हैं। पात्रो का पतन और उत्थान दोनों का ही विरोध उनके चरित्र-चित्रण की शैली में पाया जाता है। घटना और चरित्रों में मानवी कोमलता और कठोरता दोनों ही पाई जाती हैं।

इनके चरित्र-चित्रण में एक दोष यह है कि सदाचारियों तथा अत्याचारियों सभी पात्रों के चरित्रों में गम्भीरता पाई जाती है जो अस्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दूसरे दोष यह भी है कि मूल कथानक के साथ दूसरे कथानक को जोड़ दिया गया है जो मूल कथानक को नीरस बना देता है। हास्य में भी प्रायः उत्तमता नहीं है, अन्यथा आगाहश्र के नाटक बहुत उत्तम हे।

पंडित राधेश्याम 'कथावाचक'—आप बरेली के निवासी 'कथावाचक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'राधेश्याम रामायण' के लेखक आप ही है। आपने कृष्णायन भी लिखा

है। इन्होंने अनेक नाटकों की रचना की है। जिनमें 'वीर अभिमन्यु' बहुत प्रसिद्ध है। यह नाटक बम्बई की न्यू आल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए सन् १९१४ में लिखा गया था। पारसी रंगमंच पर अभिनीत हिन्दी नाटकों मे यह सबसे पहला नाटक है।

कथानक की दृष्टि से भी यह नाटक उत्तम है। इसमे भी पद्यमय भाषा का प्रयोग हुआ। इसके अतिरिक्त उक्त कम्पनी के लिए पडित जी ने और भी अनेक नाटक लिखे। जिनमें मुख्य ये है—'परिवर्तन' (१९२५) 'श्री कृष्णावतार'(१९२६) 'श्रवणकुमार' (१९२८) रुकमणी-मगल (१९२७) ईश्वर-भक्ति (१९२९) आदि पं० मोतीलाल नेहरू ने देहली मे 'ईश्वर-भक्ति' के अभिनय दिवस का उद्घाटन अपने हाथों से सन् १९२९ मे किया था। इसके अतिरिक्त काठियावाड़ की श्री सूर विजय कम्पनी के लिए उषा-अनिरूद्ध भी इन्होने लिखा था।

इनके लिखे हुए महर्षि वालमीकि और शकुन्तला का भी अभिनय किईथियन थियेट्रिकल कम्पनी कलकत्ता ने किया था। पंडितजी के अन्तिम नाटक है 'सती पार्वती' जो ग्रेट शाहजहाँ थियेट्रिकल कम्पनी के लिए लिखा गया था। प्राय. सभी नाटक कम्पनियों ने इनके नाटकों का अभिनय जनता की माँग पर किया। इन सबसे पता चलता है कि उस समय कथावाचक जी का साहित्य के क्षेत्र से इतर होने पर भी क्या स्थान था। आज भी रेडियो के रंगमंच पर इनके नाटक खेले जाते हे। इनके नाटकों का स्थान साहित्यिक दृष्टि से चाहे उच्च न हो पर नाट्य-परम्परा और युगीन वातावरण के दृष्टिकोण से विशेष हे।

पंडित जी के प्राय. सभी नाटक पौराणिक और महाभारत कालीन हैं। इन्होने कम्पनियों से प्रचलित गन्दे और आदर्श तथा शिलाहीन चरित्रों को दूर करने के लिए भारतीय संस्कृति के पुराने पात्रों के चरित्र एव जीवन का उद्धार किया है और उनको रंगमंच पर लाने में आपको पूर्ण सफलता भी मिली हे। परन्तु फिर भी कम्पनियों के अमानवी शक्ति का प्रभाव प्रत्येक नाटक पर लक्षित होता हे। यह दोष न रहते हुए भी आपकी सबसे बड़ी विशेषता इस बात मे है कि विरोधी परिस्थितियो में भी उन्होंने रंगमंच पर हिन्दी का प्रवेश कराया और दर्शक मण्डली को हिन्दी नाटकों के प्रति सुरुचि उत्पन्न करने का उद्योग किया। पंडित जी के नाटक इस प्रकार हिन्दी रंगमंचीय नाटक-साहित्य की अमूल्य देन है।

नरायणप्रसाद 'बेताब'—यह काश्मीरी ब्राह्मण थे और देहली में रहते थे। बम्बई की पारसी कम्पनी के लिए इन्होंने उर्दू मे कई नाटक लिखे। जिनमें सबसे प्रथम 'गोरख-धन्धा' (१९१२) नाटक लिखा था। पहले यह नाटक उर्दू मे लिखा था परन्तु बाद में इसका प्रकाशन हिन्दी मे भी हुआ। बेताब जी के अन्य

नाटकों में कुछ प्रसिद्ध नाटक हैं—महाभारत, जहरी सांप, रामायण, पत्नीप्रताप और कृष्ण-सुदामा।

इनकी भाषा भी न हिन्दी है और न उर्दू बल्कि दोनों मिलाकर हिन्दुस्तानी है। नाटकों के दृश्यों में चमत्कार का ध्यान उत्तम रूप से रखा गया है। पत्नी प्रताप में कुमार्गगामी (व्यभिचारी) पति पर सती पत्नी का बलिदान दिखाकर उसे सत् पथ पर लाया गया है।

नाटक कला की दृष्टि से बेताब जी के नाटक भी उत्तम नहीं कहे जा सकते परन्तु जनता में लोकप्रियता के विचार से बेताब जी अपने समकालीन किसी भी नाटक लेखक से पीछे नहीं हैं।

अन्य नाटककारों में किशनचन्द (जेबा), तुलसीदत्त हरिकृष्ण 'जौहर' और श्रीकृष्ण 'हसरत' आदि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भी हिन्दी रङ्गमञ्चीय नाटक लिखे हैं। ऐसे नाटककारों ने हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषा तथा उर्दू में भी नाटक लिखे। इन लेखकों ने मौलिक नाटक पहले उर्दू में लिखे हैं। बाद में उनका हिन्दी में अनुवाद किया। कुछ नाटक हिन्दी में लिखे गये। उस समय लोगों में दोनों प्रकार की भाषा में लिखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन सभी लेखकों और उनकी रचनाओं से नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि हुई है।

अव्यवसायी नाटक-मंडलियाँ

अव्यवसायी कम्पनियों के दो रूप मिलते हैं—१. हिन्दी नाटक-साहित्य का प्रचार, और २. विद्यालयीय छात्रों के द्वारा मनोविनोद।

शुद्ध नाटक साहित्य के प्रचार को दृष्टि में रखकर तथा नाटक के लिए आवश्यक खर्च तथा अन्य साहित्य के प्रकाशन आदि के लिये खर्च निकालने के लिए नाटकों का अभिनय करने वाली प्रथम प्रचारक मंडलियाँ थीं।

दूसरे प्रकार की मण्डलियाँ वे हैं जो विश्वविद्यालय (कालेज), विद्यालय (स्कूल) आदि में वार्षिकोत्सव आदि में केवल छात्रगण अपने मनोविनोद के लिये नाटक खेलते थे। इसके अभिनेता छात्र ही होते थे। इनके नाटकों का अभिनय करना कोई व्यवसाय नहीं था।

इन प्रारम्भिक नाटक मण्डलियों की स्थापना तथा अभिनय उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) में हुआ। उसमें भी प्रयाग, काशी और कानपुर ये तीन प्रसिद्ध स्थान हैं।

सन् १८१८ में सर्वप्रथम श्री रामलीला मंडली की स्थापना प्रयाग में हुई थी। इसका श्रीगणेश केवल रामलीला के समय में खेलने के लिए ही हुआ था।

इसके संस्थापक पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट और पं० गोपालदत्त त्रिपाठी थे। इन त्रिमूर्तियों ने राष्ट्रीय चेतना को नाटक में स्थान दिया। धार्मिकता के साथ राष्ट्रीय दृश्यों को भी रखकर तत्कालीन अंग्रेज शासक मंडल की आलोचना भी की। 'सीता-स्वयंवर'' नाटक जब सबसे पहले खेला जा रहा था उस समय वहाँ दर्शकों में स्वर्गीय पं० मालवीय जी भी थे। शिव धनुष की कठोरता के विषय मे जब निम्न वाक्य कहा गया तो मालवीय जी ने उस दृश्य को बन्द करवा दिया—

"ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी न कर सके। यह अत्यन्त दुख का विषय है, हाय।"

अन्त में यह मंडली आपस के विरोध से समाप्त हो गई और फिर माधव शुक्ल ने सन् १९०८ में हिन्दी नाटक समीति नाम से दूसरी मंडली की स्थापना की। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट प्रभृति अनेक साहित्यक व्यक्तियों ने इसमें सहयोग दिया। बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं०मुरलीधर मिश्र आदि महानुभाव इसमें सम्मिलित थे। इससे इस समीति की अच्छी ख्याति और उन्नति हो गयी। कुछ समय के बाद बाबू राधाकृष्णदास रचित 'महाराणा प्रताप' आदि इनकी उपस्थिति में ही प्रयाग मे अभिनीत हुआ। यह नाटक बहुत सफल रहा। इसका प्रहसन भी उत्तम था। इसके बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन पर जो प्रयाग में स्वर्गीय डाक्टर श्याम-सुन्दरदास की अध्यक्षता में सन् १९१९ मे हुआ था, उसमे पं० माधव शुक्ल रचित 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) का "नाट्य समीति" ने अभिनय किया था। 'इस अभिनय की सफलता की प्रशंसा आरा के बाबू शिवपूजनसहाय ने बहुत की है।

नागरी-नाट्य कला प्रवर्त्तन मंडली

सन् १९०९ में इसकी स्थापना काशी में हुई थी। इसके संस्थापक थे भारतेन्दु के सम्बन्धी ब्रजचन्द्र जी और श्रीकृष्ण दास जी तथा काशी के अभिनेता श्री हरिदास जी माणिक।

पीछे इस मण्डली के दो भाग हो गये। एक का नाम भारतेन्दु मण्डली पड़ा और दूसरे का काशी नागरी नाटक मण्डली। इस मण्डली को धनवानों का पूरा सहयोग प्राप्त था। इसने २७ जुलाई १९०९ को प्रथम नाटक खेला था। इसके बाद २७ नवम्बर १९०९ को 'महाराणा प्रताप' का अभिनय हुआ। इसके बाद कई अच्छे-अच्छे नाटक खेले गये जिनमें 'अत्याचार, सम्राट अशोक, भक्त सूरदास,कलियुग' आदि प्रसिद्ध एवं सफल अभिनीत नाटक है। इसकी सफलता के विषय मे दैनिक 'आज' और 'भारत' जैसे दैनिक पत्रों से बहुत कुछ ज्ञात होता है। इस मण्डली को

सहयोग देने वालों में प्रसिद्ध है पं० राधाशंकर व्यास, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा बनारसीदास खन्ना आदि।

भारतेन्दु नाटक मंडली

इसकी स्थापना सन् १९०८ में हुई। यह काशी नाटक मंडली की ही तरह की दूसरी संस्था थी। इसके संस्थापक भारतेन्दु के कुटुम्बी बाबू कृष्णचन्द्र जी और व्रजचन्द्र जी थे। इस मंडली ने बाबू भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय किया था। इसके अतिरिक्त महाराणा प्रताप आदि नाटक भी खेले गये। इसके मुख्य अभिनेता थे—पं०गोविन्द शास्त्री, भगवतीप्रसाद बी० ए० और वीरेश्वर बनर्जी आदि।

हिन्दी नाटक परिषद्

इस मंडली की स्थापना कलकत्ता में पं० माधव शुक्ल के द्वारा हुई थी। इस मंडली ने भी कई अच्छे-अच्छे नाटक खेले और ख्याति प्राप्त की। इस मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता थे—विजयकृष्ण भट्ट, ईश्वरप्रसाद भाटिया, भोलानाथ वर्मन पाण्डेय आदि।

इन मंडलियो के अतिरिक्त पाठशालाओं, विश्वविद्यालयों के द्वारा भी कई नाटक खेले गए।

प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रावास (बोर्डिंग हाऊस) में बाबू द्विजेन्द्रलाल-राय के प्राप्त सभी नाटको का अभिनय हो चुका है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पन्त जी इस रंगमंच पर स्त्री के वेश में अभिनय कर चुके है। इस प्रकार कई अच्छे-अच्छे विद्वान कवि अभिनेता भी रह चुके हैं।

इस प्रकार के नाटक अन्य संस्थाओं के द्वारा भी अभिनीत हो चुके हैं। और अब भी हो रहे हैं। जनता की रुचि भी इस ओर निश्चय ही बढ़ रही है।

नाट्य कला

यद्यपि इन अव्यवसायी तथा व्यवसायी पारसी कम्पनियों के नाटकों की रचना में कोई विशेष भेद नही है। दोनों की कथावस्तु अपने लक्ष्य पर एक ही प्रकार से पहुँची है, परन्तु फिर भी इनमें कुछ अन्तर अवश्य है।

अव्यवसायी मंडलियों का कथानक पौराणिक होने पर भी उसमें देश-प्रेम की भावना अधिक है। पात्रों के चरित्रों की गम्भीरता और हास्य रस में भी लोगों की-सुरुचि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। गीति-काव्य की दृष्टि से भी उसमें —ता उत्तम है। पारसी कम्पनियों जैसा भद्दा गीति नही है। इसके अतिरिक्त

सबसे बड़ी देन है इनकी हिन्दी भाषा के विकास की। इन मंडलियों ने लोक-नायकों के संदेश को साधारण जनता तक पहुँचाने में बड़ी निर्भीकता से काम किया। इनका वातावरण मौलिक है तथा पारसी जैसी कृत्रिमता नही।

यह सत्य है कि हिन्दी रंगमंच का स्थान सिनेमा ने ले लिया। यदि ऐसा न होता तो नाटकों का हिन्दी साहित्य में कलात्मक निर्माण अवश्य होता।

प्रमुख नाटककार एवं रचनाएं

अव्यवसायी मंडली के प्रमुख नाटककार और उनकी रचनाये निम्नलिखित है—

१. पड़ित माधव शुक्ल—यद्यपि इन्होने केवल दो नाटक लिखे "सीय-स्वयंवर" और "महाभारत पूर्वार्द्ध"। परन्तु नाटक साहित्य के विकास के लिये आपने वहुत प्रयास किया। वैसे तो शुक्ल जी अधिक समय तक प्रयाग में ही रहे किन्तु इनका कार्यक्षेत्र लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ता रहा जहाँ अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की। इन्होंने कलकत्ते की नाट्य परिषद् तथा नाटक साहित्य और कला के प्रचार में अधिक काम किया है और अब भी वहाँ नाटक साहित्य और कला को जीवन दान दे रहे है।

२. आनन्दप्रसाद खत्री—इनका जन्म काशी में हुआ था। इनके जीवन का आरम्भ सिनेमा की मैनेजरी से हुआ है। सवसे प्रथम मूक अभिनय की ओर इनकी प्रवृत्ति थी। फिर सवाक् (बोलचाल) के चित्रों के आने पर आप वम्बई में "शारदा कम्पनी" के डायरेक्टर पद पर नियुक्त हो गये। आप अच्छे अभिनेता और नाटककार हैं।

आपके लिखे कई नाटक हैं जिनमें गौतम बुद्ध, कृष्ण-लीला, ध्रुवलीला परीक्षित और भक्त सुदामा आदि मुख्य हैं। इनके नाटकों में कथावस्तु का गठन और चमत्कार के साथ ही भाषा भी प्रौढ़ है, परन्तु तुकान्त गद्य का प्रयोग कुछ सुन्दर नहीं लगता है।

३. हरिदास माणिक—आरम्भ में आप काशी के किसी स्कूल के मास्टर थे। इनकी रुचि अभिनय कला की ओर आरम्भ से ही थी। इन्होंने कई नाटकों में स्त्री तथा पुरुषों का अभिनय अच्छे ढंग से किया था। आपके अभिनय से दर्शक मंडली वहुत प्रसन्न होती थी। आपको संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। माणिक जी के लिखे हुये तीन नाटक मिलते हैं—

(१) संयोगिताहरण (२) पाण्डव-प्रताप और (३) श्रवणकुमार।

इनमें प्रथम दो विशेष प्रसिद्ध हैं। इन दोनों नाटकों में तीन अंक हैं तथा

कथावस्तु ऐतिहासिक है। इनमें वीर रस की प्रधानता है। साथ ही शृंगार की भी पर्याप्त मात्रा व हास्य का भी प्रचुर पुट मिलता है। दृश्यों का क्रम रंगमंच के अनुसार है। कलात्मक दृष्टि से नाटक उत्तम है। वस्तु का विकास, चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और सम्वाद की सरलता आदि गुण अच्छे हैं। केवल गीति-काव्य को उत्तम नहीं कहा जा सकता है। ये नाटक पारसी कम्पनियों के कुरुचिपूर्ण अभिनय के विरुद्ध लिखे गये थे। इनमें नाटकों का अभिनय भी हुआ था। इन नाटकों में प्राचीन संस्कृत नाटक प्रणाली तथा नवीन अंग्रेजी नाटक प्रणाली दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

४. पं० माखनलाल चतुर्वेदी—चतुर्वेदी जी कवि और पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु इन्होंने "कृष्णार्जुन युद्ध" नाटक लिखकर नाटक क्षेत्र में भी यश-लाभ किया है। यद्यपि इस नाटक की कथावस्तु पौराणिक है किन्तु उसमें आधुनिक राजनीति को भी स्थान दिया गया है। नाटक में हास्य का भी पुट शिष्टतापूर्ण मिलता है।

साहित्यिक एवं रंगमंचीय दोनों दृष्टि से यह नाटक उत्तम है। इससे सुभद्रा के चरित्र में आर्य रमणी के कर्त्तव्य की महत्ता का अभाव है। वह अर्जुन को प्रभावित करने के लिये कोप-भवन में चली जाती हैं। यह वीर पत्नी के योग्य नहीं। इस दोष के होते हुए भी यह नाटक हिन्दी नाटक साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है।

५. जमुनादास मेहरा—इन्होंने पौराणिक और सामाजिक प्रहसन की शैलियों के आधार पर कई नाटक लिखे हैं, जिनमें विश्वामित्र (देवयानी), जवानी की भूल, हिन्दू कन्या, पंजाब केसरी आदि मुख्य रचनायें हैं।

पौराणिक नाटकों में प्राचीन आदर्श को दिखाया गया है और सामाजिक नाटकों में समाज के प्रतिदिन की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इन नाटकों में घटना की प्रधानता है। अतः ये सभी नाटक रंगमंच पर अभिनय के योग्य हैं। इसमें उपदेश की भी मात्रा अधिक है। प्रहसन में कोई विशेषता नहीं है। वार्तालाप में मनोरंजकता अवश्य है।

६. दुर्गाप्रसाद गुप्त—आप काशी के निवासी थे। पहले अभिनेता के रूप में रंगमंच पर और फिर बाद में नाटक लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। आपने बम्बई में अपने लिखे 'हम्मीर हठ' नाटक का अभिनय भी किया था। इनके प्रसिद्ध नाटक निम्नलिखित हैं—

भक्त तुलसीदास, भरत-रमणी, महामाया, नकाबपोश, श्रीमती मंजरी आदि।

इनके प्रारम्भिक नाटकों पर बंगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव लक्षित होता है। इन नाटकों में हिन्दू-मुसलिम एकता पर बल दिया गया है। धनिकों के विलासितापूर्ण यौवन पर भी व्यङ्ग किया गया है। इनका "श्रीमती मंजरी" उत्तम नाटक है। इसमें भाषा, भाव और संवाद सभी अच्छे हैं।

७. शिवरामदास गुप्त—आप नाट्य जगत में अभिनेता संचालक और लेखक रूप में प्रसिद्ध हैं। नाटक साहित्य में इन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय तथा आगाहश्र को अपना गुरु माना है। इनके प्रायः सभी नाटक रगमंच के योग्य हैं। इनके प्रसिद्ध नाटक निम्नलिखित है—

चिरागे चीन, दूज का चाँद, परिवर्तन और पहली भूल।

८. बाबू बलदेवप्रसाद खैर—इन्होने पारसी नाटकों का अनुवाद किया था। नाटक कई लिखे किन्तु प्रसिद्ध कोई नाटक नही है।

विशेषताएँ

१. रँगमंचीय नाटकों का विकास अमानत की 'इन्दर-सभा' और पारसी कम्पनियों के नाटक से हुआ था।

२. इन नाटकों की कथावस्तु में विचित्रता की अपेक्षा वाहरी समाज और दिखावट की प्रधानता थी। दो विरोधी भावों का संघर्ष दिखाकर उसमें सत्य की असत्य पर विजय दिखा देना चरित्र-चित्रण का उद्देश्य था।

३. भाषा उर्दू थी और उनमें पद्य तथा गद्यो की प्रधानता थी। परिहास भी निम्न श्रेणी का था।

४. उक्त बातों का भारतेन्दु-कालीन नाटककारों की रचनाओं में अधिक प्रभाव पड़ा हैं।

५. इन नाटकों में गम्भीरता, आदर्शवादिता आदि वी प्रधानता है। इन नाटककारों ने सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक समस्याओं को जन्म दिया है।

६. राजनीतिक जाग्रति, हिन्दू मुस्लिम एकता, हरिजन उद्धार आदि के प्रतिविम्ब भी अनेक नाटकों में मिलते है।

७. यद्यपि कला की दृष्टि से ये नाटक ऊत्तम नही है, परन्तु फिर भी इनके द्वारा हिन्दी नाटक के क्षेत्र को अधिक विस्तृत किया गया है।

८. उर्दू नाटकों पर अँग्रेजी नाटकों का अधिक प्रभाव पड़ा है। अतः पारसी कम्पनियों के नाटकों की कथावस्तु और पात्र प्रायः सभी अँग्रेजी से लिए गए हैं।

९. अव्यवसायी मडलियो ने पौराणिक कथानको को ही लिया है। अँग्रेजी का अनुकरण बहुत कम हुआ है। अँग्रेजी अनुवादित नाटको का हिन्दी रगमंच पर अभिनय प्रायः नही हुआ।

१०. सगीत-परम्परा चलती रही और उससे काव्यत्व विकास होता गया। हाथरस और मेरठ की सगीत-मण्डलियो ने इस ओर अच्छा नाम पाया।

११. अशिक्षित जनता में रासलीला और रामलीला के द्वारा धार्मिकता एवं उपदेश का प्रचार किया गया।

: ५ :

नवीन काल : प्रसाद युग

परिस्थितियाँ

विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिये निरन्तर किये गये उद्योगों के कारण सन् १६१६ में 'लखनऊ कांग्रेस' के अधिवेशन में सर्वदलों ने सम्मिलित रूप से उत्तर-दायी शासन की मांग की ओर कदम बढ़ाया। सन् १६१४ में गत महायुद्ध छिड़ जाने के कारण ब्रिटिश सरकार ने वचन दिया था कि इस महायुद्ध के बाद शासन व्यवस्था में भारतीयों को अधिकार मिलेगा। किन्तु सन् १६१६ में अधिकार देने के स्थान पर भारतीयों पर "रौलट ऐक्ट" लाद दिया गया। इससे लोगों में असन्तोष और घृणा की भावना फैल गई।

इसी समय अमृतसर (जलियाँवाला बाग) के हत्याकांड ने भी जनता के क्रोध को और भी उद्दीप्त कर दिया। उस समय के हमारे प्रतिनिधि कवियों ने भी काव्य के "रसोत्कर्ष" वर्णन को छोड़कर अपनी प्रांतीय भाषा में बड़े कटु और कठोर शब्दों में विदेशी नीति का विरोध किया। "जखमी पञ्जाब" और "वतन" आदि नाटकों का निर्माण उसी प्रेरणा के परिमाणस्वरूप हुआ।

इन परिस्थतियों में देश-प्रेम भावना सब ओर मूर्तिमान हो उठी थी। देश के नेतृत्व की बागडोर गांधी जी ने अपने हाथ मे ली, और जनता को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाकर असहयोग आन्दोलन के सैनिक बनने का सन्देश दिया।

सन् '६३० में "सविनय अवज्ञा आन्दलन" का आरम्भ हुआ। इस समय समस्त भारतवर्ष में विद्रोह की प्रचण्ड अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी थी। देश के स्त्री-पुरुषों ने अपने महान् त्याग को दिखाकर गांधी जी का साथ दिया। यह थी उस समय की राजनीतिक परिस्थिति।

सामाजिक, वैज्ञानिक आविष्कारों और व्यापार-प्रतियोगिता ने शोषित वर्ग उपस्थित कर दिया। परिमाणस्वरूप पूँजीवाद के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। शोषक (पूँजीपति) और शोषित (मजदूरो) में अन्तर्युद्ध छिड गया। इसी संघर्ष को लेकर प्रगतिशील साहित्य का जन्म हुआ और सामाजिक जीवन में एक नव चेतना जागृत हो गई।

प्राचीन परिस्थिति, विचार धारा, समस्त जाति आदि सभी में एक प्रतिक्रिया दिखाई देने लगी। हिन्दी साहित्य में भी छायावाद और रहस्यवाद का जन्म हुआ था। मुन्शी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासो में मानव जीवन की समस्याओं का चित्र उपस्थित किया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' आदि रचनाओं के द्वारा राष्ट्रीय गाना सुनाकर भारतीय संस्कृति और धार्मिकता का सन्देश एक साथ जन-जन को सुनाया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी साहित्य के प्रकाशन के द्वारा साहित्य की वृद्धि की और विद्वानो को प्रत्साहित किया। स्कूल और कालेजो मे वैकल्पिक रूप से हिन्दी के प्रदेश ने भी हिन्दी साहित्य को आगे बढने में योग दिया। इन सभी उक्त कारणो से प्रभावित वह परिस्थिति थी, जिसमें प्रसाद जी का आगमन हुआ और हिन्दी नाटक साहित्य का नवीन काल आरम्भ हुआ। इस समय प्रसाद का व्यक्तित्व सर्वोपरि था।

प्रसाद जी नाटककार के रूप में

जिस प्रकार हिन्दी नाटक साहित्य का शैशवकाल का आरम्भ भारतेन्दु युग माना जाता है, वैसे ही उसका यौवन काल प्रसाद-युग से समझा जाता है। इस नवीन युग तक के नाटक साहित्य की रचना में अनेक परिवर्तन देखे जाते है। जैसे—

१—नाटको में पद्य के स्थान पर गद्य का समावेश।

२—पहले के नाटकों में ब्रज और खड़ीबोली का प्रयोग पद्य और गद्य के रूप में हुआ था। क्रमशः ब्रज के स्थान पर खडीबोली का प्रयोग अधिक होने लगा।

३—नाटकीय परम्पराओ में भी परिवर्तन हुए। जैसे प्रस्तावना, मंगला-चरण, भरत-वाक्य आदि के प्रयोग का ह्रास दिनोदिन हो गया।

४—धार्मिक विषयो के स्थान पर ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको की रचना हुई।

प्रसाद जी नाटक साहित्य के क्षेत्र मे एक नवीन मौलिक युग के प्रवर्तक है। भारतेंदु युग से इन्हे कुछ प्रेरणा अवश्य मिली थी। उसे प्रेरणा कहे या तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव कहे; किन्तु प्रसाद जी पर उसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

भारत मे अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा सदियो की परतन्त्रता से भारतीयो की वीरता का केवल नाममात्र शेष रह गया था। विदेशियो को भारतीयो की शक्ति पर विश्वास नहीं होता था। इस वैज्ञानिक युग मे जहाँ नित्य नये नये अस्त्र-शास्त्रों का निर्माण होता है। वहाँ ऐसी परिस्थिति में वायु-युद्ध करने वाले और तलवार चमकाने

वालों की कथावस्तु को लेकर लिखे गये नाटकों में कोई अधिक महत्व भी नही होता और न उसका प्रभावही अन्य देशी साहित्यकारों पर पड़ता।

इस समय इस बात की आवश्यकता थी कि अपनी भारतीयता और उसकी संस्कृति तथा उसके चिर गौरव को इस प्रकार साहित्य में प्रतिष्ठापित किया जाये, जिससे केवल अपने देशवासियों को ही अपने साहित्य का ज्ञान न हो बल्कि उस साहित्य से अन्य विदेशियों को भी भारत को उसी दृष्टि से देखने का अवसर मिले। इस आवश्यकता को दृष्टि में लिए हुए प्रसाद जी हिन्दी नाटक साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उन्होंने अपने नाटक साहित्य का आरम्भ इतिहास के उस खंडहर से किया जिसे हम भारतीय गौरव का महान युग कहते हैं। वह था बौद्ध युग, गुप्त युग और हर्षवर्धन का युग।

नाट्यशैली का विकास

आरम्भ में प्रसाद जी केवल कवि रूप में ही साहित्यिक क्षेत्र में आये। उनमें कल्पना, अनुभूति और, काव्यत्व की प्रधानता थी। वर्तमान छायावादी और रहस्यवादी कविताओं का नेतृत्व करके इन्होंने कविता क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। भाषा, भाव, विचार,अन्वेषण, दार्शनिक ग्रन्थो के अध्ययन आदि से सुसज्जित होकर नाटक क्षेत्र में अवतीर्ण हो नवीन युग के प्रवर्तक बने। प्रसाद जी ऐतिहासिक दार्शनिक और कवि थे। इन्होंने इतिहास के द्वारा जीवन की दार्शनिक समस्याओं पर भावुकतापूर्ण प्रकाश डाला है।

प्रसाद ने आरम्भ में चार एकांकी नाटक लिखे—(१) सज्जन (१६१०-११) (२) कल्याणी-परिणय (१६१२), (३) करुणालय (१६१२) और (४) प्रायश्चित (१६१४)। ये नाटक कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व नही रखते हैं। फिर भी प्रसाद की नाट्य कला के विकास में इनका विशेष स्थान है। इन में ब्रजभाषा, खड़ीबोली और अतुकान्त काव्य, गीत काव्य आदि का प्रयोग हुआ है।

पुराने युग के कथानक से लेकर आधुनिक युग तक के कथानक इनमें हैं। सत्य हरिश्चन्द्र, महाभारत के पांडव, चन्द्रगुप्त मौर्य और जयचन्द सभी को पात्र रूप में इन एकांकी नाटकों का विषय बनाया गया है। कथावस्तु में मानवी तथा दैवी दोनों प्रकार के स्वभावों का निरूपण हुआ है। इन एकांकी नाटको में ऐतिहासिक प्रवृति तथा अन्वेषणात्मक (खोज) भावना का परिचय मिलता है। राज्यश्री (१६१५) में यह प्रवृति और भी अधिक लक्षित होती है। विशाख (१६२१) में प्रसाद जी का ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी अधिक निश्चत दिखाई देता है।

अपने विचारों को क्रियात्मक रूप में परिणत करने के लिये उन्होंने ऐतिहासिक नाटकों की एक माला-सी पिरो दी है जिसका प्रथम पुष्प है 'विसाख' और अन्तिम 'ध्रुवस्वामिनी'। विसाख, अजातशत्रु (१९३२) और जनमेजय का नाग-यज्ञ, (१९२६) इन तीनो नाटकों में प्रतिहिंसा और करुणा सहानुभूति का रूप धारण कर लेती है और उनके द्वारा आत्मसंयम तथा आत्मशासन की प्रतिष्ठा हुई है। नाटकों में आकुल भारतीय युवक की आत्मा प्राचीनता से विद्रोह करती हुई नवीनता को स्थापित करने के लिये लालायित दिखाई पड़ती है। इसी से पुराने कथानक भी सजीव हो गये हैं। नाटकीय संघर्षो की सामग्री संधियुग में विशेष रूप से उपलब्ध होती है।

"जनमेजय" द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ की सन्धि में से लिया गया है। 'राज्यश्री' गुप्तों का पतन और हर्ष-वर्द्धन के वंश के उदय की सन्धि में से लिया गया है। "स्कन्दगुप्त" में क्षीण और जर्जरित गुप्त-वंश के अन्तिम दिनों की चमकती हुई झांकी है। "चन्द्रगुप्त", में नन्द तथा मौर्य की संधि दिखाई पड़ती है। स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में आदर्श और यथार्थता को समन्वित किया गया है।

इन नाटकों में संघर्ष, प्रतिहिंसा, उच्च त्याग, कर्त्तव्य और भावुकता का संघर्ष और राष्ट्रीय भावनाओं को अंकित किया गया है। "चन्द्रगुप्त" में अखण्ड भारतीय और विदेशी सभ्यता का संघर्ष दिखाकर भारतीय सभ्यता को उत्तम सिद्ध किया गया है।

प्रसाद जी ने प्राचीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के द्वारा वर्तमान भारत की दीनावस्था के कारणों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। साथ ही उनसे मुक्त होने की भी प्रेरणा मिलती है।

सन् १९३० तक की नवीन भारत की राष्ट्रीय भावना इन कथानकों में पूर्ण समुज्जल रूप में प्रकट हुई। ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि हुई है। मालविका, देवसेना, विजया आदि काल्पनिक पात्र हैं। इसके अतिरिक्त नवीन विषय को लेकर "कामना" और "एक घूंट" नाटक लिखे गये हैं। "कामना" नाटक के प्रतीकवादी परम्परा दिखाई देती है। भौतिक विलासिता ने जीवन में विफलता और संघर्ष को जन्म दिया है। इस विक्षुब्ध वातावरण को सन्तोष और ज्ञान के द्वारा शान्त करने तथा मनोवैज्ञानिक विकास के द्वारा समाज में पुनर्मंगल विधान की स्थापना हुई है।

'एक घूंट' मे यथार्थ और आदर्श स्त्री व पुरुष के सूक्ष्म चरित्र के साथ ही उनमें उनके समंजस्य स्थापना की आवश्यकता पर भी दृष्टिपात हुआ है। उनका

विश्वास है कि पुरुष की कठोरता का अन्त स्त्री की कोमलता और सुन्दरता में निहित है।

जीवन के गम्भीर विषयों पर इस प्रकार का विचार नाटक साहित्य में प्रसाद जी की ही देन है। युग की मांग के उत्तर में प्रसाद की यह नवीन और मौलिक देन है। इस प्रकार उन्होंने सांकेतिक शैली और समस्या-प्रधान धारा को सुरक्षित रखा है। "ध्रुवस्वामिनी" में नारी समस्या पर नया प्रकाश डालकर उसे भी मोक्ष प्राप्ति का अधिकार है को प्रमाणित किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु के पश्चात् प्रसाद जी ने ऐतिहासिक खोजों के द्वारा नाटक-साहित्य को नवीन रूप प्रदान किया।

युग की समस्याओं के अनुसार भारत के समुज्ज्वल इतिहास को अपने नाटक का विषय बनाया। चरित्र के चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व तथा नाट्य-विधान में मौलिक परिवर्तनों के साथ नाटक साहित्य का नवीन काल प्रारम्भ किया।

नाट्य विशेषताएं

प्रसाद जी इतिहासवेत्ता, दार्शनिक और कवि तीनों हैं। रवीन्द्रबाबू की दार्शनिकता और द्विजेन्द्रलाल राय की ऐतिहासिकता के साथ ही प्रसाद में भावुकता की प्रधानता है। इन्होंने इतिहास के द्वारा जीवन की दार्शनिक समस्याओं पर भावुकतापूर्ण प्रकाश डाला है।

उनकी नाटकीय विशेषताएं ये हैं—१. ऐतिहासिकता, २. अन्तर्द्वन्दात्मकता, ३. चरित्र-चित्रण की प्रधानता, ४. नारी का करुण एवं मनोहर स्वरूप, ५. प्रतिष्ठा, ६. सुखान्त भावना, ७. गीतात्मकता और ८. नाट्य-विधान।

१. ऐतिहासिकता—प्रसादजी की अधिकांश रचनाएं ऐतिहासिक हैं। प्राचीन इतिहास के खंडहरों में से रत्नों को बटोर कर इन्होंने एक सुन्दर हार के रूप में पिरो दिया हैं। इनसे पूर्व किसी भी नाटककार की दृष्टि प्राचीन इतिहास की ओर नहीं गई थी।

आपके "सज्जन" तथा "जनमेजय का नाग-यज्ञ" नाटकों में कथानक महाभारत से लिए गये हैं। यह नाटक द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ काल की विचारधारा के द्योतक हैं। "नाग-यज्ञ" में प्रसिद्ध तक्षक (नाग) की कथा नहीं है। इनका कथानक नाग-जाति से सम्बन्ध रखने वाला है। खाण्डव दाह के समय वहाँ से निकलकर नाग-जाति ने तक्षशिला को अपने अधिकार में लिया था। राजा परीक्षित से संघर्ष हुआ और परीक्षित मारा गया। बाद में परीक्षित का पुत्र जनमेजय ने पिता का नागों से भरपूर बदला लिया। यह एक ऐतिहासिक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है।

इसी प्रकार अपने प्रचीन "आर्यावर्त" प्रसिद्ध लेख में इन्द्र को देवता न मान कर आर्यों के प्रथम सम्राट के रूप में माना जाता है। इसके बाद उनका नाटक 'चन्द्रगुप्त' है यह नन्द वंश के अन्त और मौर्य के उदय काल का है। यद्यपि इस विषय में इनसे पहले भी कई नाटक लिखे गये परन्तु प्रसादजी की विशेषता चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्र-चित्रण में है। इससे पहले चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का इतना सुन्दर और स्पष्ट चित्रण किसी में नहीं हुआ। 'मुद्राराक्षस' नाटक में वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली है। अजातशत्रु में भी कृत्रिमता पर स्वाभाविक और रूक्षता के स्थान पर सरसता का चित्रण कर इसमें रोचकता का समावेश किया है। यह चन्द्रगुप्त का पौत्र और विन्दुसार का पुत्र अशोक था। इसमें उस समय के राजनीतिक तथा धार्मिक षड़यन्त्रो का उल्लेख ऐतिहासिक कलात्मकता के साथ हुआ है।

जर्जर मौर्य राज्य के अन्त होने पर कोई भी प्रतापी राजा नहीं हुआ। फिर गुप्त वंश के अन्त में एक अभ्युदय काल हुआ। हूणों और शकों के आक्रमण से भारत को बचाने के लिए गुप्त राजा उठ खड़े हुए। इसी उद्देश्य को लेकर 'ध्रुवस्वामिनी तथा स्कन्दगुप्त' की रचना उन्होंने की।

राज्यश्री भी हर्ष काल की कथावस्तु पर आधृत है। इस प्रकार प्रसाद जी ने ऐतिहासिक धारा को नवीन और मौलिक रूप प्रदान किया। नाटकों में काल्पनिक पात्रों का विकास भी हुआ।

इनके अतिरिक्त 'कामना' और 'एक घूंट' नामक मौलिक काल्पनिक नाटक भी लिखे है। उक्त सभी कारणों से प्रसाद जी ऐतिहासिक नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं।

२. अन्तर्द्वन्दात्मकता—प्रसाद जी के नाटकीय विधान में उनकी सर्वोन्मुखी प्रतिभा मिलती है। भारतीय तथा पश्चिमी दोनो ही नाट्य-शास्त्र के अंगों का समावेश इनके नाटकों में मिलता है। आपने प्रस्तावना, गर्भाङ्क, विष्कम्भक आदि प्राचीन रूढिगत परम्पराओं को छोड़ कर ही नाटकों की रचना की है।

पहले के नाटकों में आदर्श पात्रो का ही चित्रण मिलता है। उनमें मानसिक संघर्ष की कमी है। उन नाटकों में आदर्शवाद की प्रधानता है। अतः प्रसाद जी ने यथार्थ और आदर्श का समन्वय करने के लिये अपने नाटकों को अन्तर्द्वन्द प्रधान बनाया है। सभी पात्रों में उत्तेजना है, जैसे – दिवाकर मिश्र' प्रेमानन्द व्यास गौतम और मिसिरदेव। इसी प्रकार अपनी समस्त इच्छाओं को त्याग कर गिरते हुए पात्रों का उद्धार करने वाली मालविका, अलका और देवसेना आदि सन्नारियों का चरित्र-चित्रण बड़े सुन्दर रूप से हुआ है। इनके पात्रो में भाग्य-वादिता के सहारे चलने

वाले पात्र अपने जातिगत संस्कार में वधे हुए है । चाणक्य में यही वृति मिलती है । प्रसाद ने सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण किया है । सभी पात्रो में उत्तेजना है, जोश है । संघर्ष की भावना है और क्रान्ति की हलचल मे जीवन की व्यग्रता है । इनके नाटको के व्यक्तियो के संघर्ष मे संस्कृति एवं राष्ट्रीय संघर्ष झलकता है । चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के संघर्ष में भारत और युनान का संघर्ष है ।

३. चरित्र-चित्रण—अपनी चरित्र-चित्रण कला में भी प्रसाद जी ने एक नई प्रणाली को अपनाया है ।

प्रत्येक नाटक मे ऐतिहासिक घटनाओ के साथ ही कोई आदर्श पात्र अवश्य रहता है । जो विपमता में समता लाने का कोई उद्योग करता है । सस्कारो में परिवर्तन, अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करता है । जैसे— दिवाकर मिश्र प्रेमानन्द व्यास, गौतम, और मिसिर देव । इसी प्रकार अपनी समस्त इच्छाओं को त्याग कर गिरते हुए पात्रों का उद्धार करने वाली उच्च नारियाँ हैं—मालविका, अलका और देवसेना आदि । इनका चरित्र स्वाभाविक प्रभावशाली एवं सुन्दर है ।

प्रसाद जी के नाटक के पात्रो मे भाग्यवादिता के सहारे पलने वाले पात्र अपने जातिगत संस्कार में बंधे हुए है । चाणक्य में यही वृत्ति प्रधान मिलती है इस सबके अध्ययन से पता चलता है कि प्रसाद ने सभी प्रकार के पात्रो का चित्रण किया है । प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण में एक सब से बड़ा दोप यह है कि जब उन्हे किसी पात्र की आवश्यकता नही होती तो वे झट उसकी मृत्यु को दिखा देते है । उक्त स्थलो पर कृत्रिम नाटकीयता स्वाभाविकता को आच्छादित कर लेती है ।

४. करुणा—प्रसाद के नाटक अन्तर्वेदना पूर्ण है । इनसे पहले जितने नाटक लिखे गये उनमें व्यंग्य और हास्य की मात्रा अधिक थी । शब्दो की भरमार थी । उनमें भावो की गम्भीरता नही थी । किन्तु वेदना के कवि प्रसाद ने अपनी कोमल भावुकता को उसमें मिला दिया ।

५. नारी-समस्या—प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी के अनेक चित्रो को रजित करने का प्रयास किया । इस कार्य में जितने वे सफल हुए है शायद ही कोई और नाटककार सफल हुआ हो । यही कारण है कि प्रसाद जी नारी के चित्रण में इतने संलग्न हो जाते है कि पुरुप पात्रो में दोप दृष्टि-गोचर होने लगते है । इनकी नारी पत्नी, प्रेमिका, त्यागमयी, क्षत्राणी, विलासप्रिय एवं आदर्शोन्मुखी सभी मानवीय गुणों को अपनाए हैं । अत: स्वाभाविकता के अधिक निकट है ।

कल्याणी और मालविका जैसी नारियाँ अन्य नाटकों में दुर्लभ हैं। उनके वलिदान से उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। देवसेना की पवित्रता से पापी भी पवित्र वन सकता है।

प्रसाद जी ने अपने काव्यो एवं नाटकीय रचनाओं में सर्वत्र भारतीय सभ्यता में नारी का विशेष महत्त्व और स्थान स्वीकार किया है। इससे पता चलता है कि नारी के चरित्र को जो देवताओं के लिए भी पहेली रहा है प्रसाद जी के सम्मुख सुलझ गया है।

६. सुखान्त भावना—जीवन में सुख और दुख दोनों ही निरन्तर आते-जाते रहते हैं। जीवन के प्रतिविम्व नाटक साहित्य में भी चित्रित होते हैं। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्र के आचार्यो ने सुखान्त नाटकों को ही महत्त्व प्रदान किया है। इनका सिद्धान्त है कि आनन्द से उत्पन्न जीव सदा आनन्द चाहता है। अतः उसका अन्त भी उसी आनन्द में होना चाहिये। उनके नाटकों में नायक या नायिकाओं को ऐसे वर्गों में चुना गया है जो फल प्राप्ति के अधिकारी होते थे। नाटक के अन्त में उन्हें फलागम के साथ सुख और शान्ति मिलती है। नाटक का अन्त सुख और शान्तिमय वातावरण में होता था। इसका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिये कि संस्कृत नाटकों में दुःखमय जीवन के चित्रण का प्रत्याखान है। उसमें कष्टमय जीवन का और संघर्ष का चित्रण हुआ किन्तु फलागम से पूर्व ही उस दुःख का अन्त हो जाता था और अन्त में सुख की प्राप्ति भी होती थी। अतः संस्कृत नाटकों में सुखान्त भावना का प्राधान्य है। नाटक की पाँच अवस्थाएँ ये है—(१) आरम्भ (२) यत्न (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम।

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में भी दुःखान्त नाटकों का निर्माण होने लगा है। प्रसाद जी ने इस दुःखान्त भावना को बदल कर उसमें दार्शनिकता का पुट भर दिया है। उन्होंने कर्त्तव्य की भावना को ऊँचा मानकर आत्मसंतोष को इसका परिणाम माना है। शान्ति प्राण रक्षा में प्राप्त हो अथवा मृत्यु में मनुष्य को सदैव तत्पर रहना चाहिए। मानसिक या आत्मिक संतोष सुख का द्योतक है। मानसिक या आत्मिक असंतोष दुःख का ही कारण है। अतः इस दुख की दार्शनिक परिभाषा से प्रसाद के नाटक सुखान्त भावना से परिपुष्ट है।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में ऐसे पात्रो का सृजन किया है जो घोर अपराधी थे। कितनी ही महत्वाकांक्षा की स्वार्थमयी भावना रखने वाले पात्र क्यों न हों,

ने अन्त में स्वयं अपने अपराध का प्रायश्चित करने को तैयार हो जाते हैं। भले ही अपने इन कृत्यों से उन्हें मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े।

नरदेव का त्याग, विम्बसार की मृत्यु, वन्धुल की हत्या पर मल्लिका की दशा, भटार्क की हत्या— स्कन्दगुप्त का राज-त्याग, चाणक्य का वन-गमन और रामगुप्त की मृत्यु आदि की घटनाएँ जो नाटकों को दुःखान्त वना सकती थीं वह प्रसाद कलाकारिता में आकर सुखान्त वन गई है।

प्रसाद की इस सुखान्त भावना में आत्मशोध और सत्य की खोज की दार्शनिकता छिपी है। मानवी भावो और आदर्शों में इसे शुद्ध वृत्ति का सृजन प्रसाद जी की अनुपमता और विश्व-कल्याण के प्रति उनकी विशाल सहृदयता की सूचना है। और हिन्दी नाटकों के लिये तो एक अनुपम देन है ही।

७. गीतात्मकता—प्रसाद के कवि हृदय से निकले हुए गीतकाव्य ने उनकी नाट्यकला में और अधिक सुन्दरता की श्रीवृद्धि की है।

यह गीत केवल कल्पना प्रसूत नही है। वे मानवी भावनाओं की अनुभूति हैं। साहित्यक महत्ता के साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इन गीतों से सहायता मिलती है।

विशाख के अनजान हृदय को विस्तार से गीतों से स्पष्ट किया गया है। पात्रों के चरित्रों का यत्र-तत्र गीतों से चित्रण होता है। देवसेना के गीतों में नारी हृदय का सचित्र इतिहास है। एक उसके जीवन का पूर्वार्द्ध और दूसरा उत्तरार्द्ध है—

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप॥

इसी प्रकार सुवासिनी के गीतों में प्रेम और सौंदर्य के वड़े सजीव वर्णन हुए हैं—

तुम कनक किरण के अंतराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते।
यौवन के धन, रसकन ढरते॥
"हे लाज भरे सौंदर्य ! वतादो मौन बने रहते हो क्यों ?"

प्रसाद के गीतों की विशेषता यही है कि वे शुद्ध काव्य भी है और परिस्थिति विशेष का उद्घाटन करने वाले भाव-चित्र भी।

८. नाट्य विधान—प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। प्रसाद से पूर्व के नाटककार और नाटकों में कोई स्थिरता नहीं है। उनमें पश्चिमीय

और पूर्वीय कला का सम्मिश्रण नहीं हो पाया, किन्तु प्रसाद ने इनके सम्मिश्रण के द्वारा एक नूतन और मौलिक मार्ग बना दिया जिसने भविष्य के नाटककारों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम किया।

प्रस्तावना और वर्जित विषय दिखाने वाले गर्भांकों, प्रवेशकों और विष्कम्भक को उन्होंने सदा के लिए विदा दे दी। ऐतिहासिक नाटकों में भी अपनी मौलिकता के द्वारा कल्पनिक पात्रों की सृष्टि की।

संवाद और पात्रों द्वारा वस्तु-निर्देशन में इन्होंने एक नूतनता लादी। "स्वगत" और "सूच्य" दोनों शैलियो का समुचित उपयोग हुआ है। कहीं-कहीं लम्बे और भावुकतापूर्ण, अनावश्यक भाषण अवश्य खटकते हैं।

प्रसाद जी ने ऐतिहासिक, साँकेतिक और समस्या-परम्पराओं को अपनाया। वस्तु-विन्यास, शैली, भाषा-सौष्ठव, गीति काव्य और उदात्त भावनाओं एवं भावुकता और दार्शनिकतापूर्ण संवाद आदि ने नवीन नाटक रचनाओं के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। अतः हिन्दी जगत प्रसाद जी का ऋणी है।

नाटकों में छायावादी प्रभाव

प्रसादजी के नाटकों में छायावादी तत्वों का अनुसन्धान सामान्यतः अनुपयुक्त और असंगत प्रतीत होता है। हिन्दी साहित्य में द्विवेदीयुगीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया-स्वरूप जिस छायावादी आन्दोलन का प्रारम्भ और विकास हुआ था उसका सम्बन्ध काव्य-क्षेत्र से है न कि गद्य से। नाटक गद्य की एक विधा है। अतः गद्य में छायावादी काव्य की विशेषताओं की खोज-बीन करना निश्चय ही अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। फिर भी, प्रसाद जी के नाटकों में छायावादी तत्वों का अनुसन्धान करने के दो कारण हैं। प्रथम तो यह है कि इन नाटकों की रचना छायावादी युग में हुई थी। छायावादी युग सवंत् १९७५-१९९४ तक माना जाता है। प्रसाद जी के नाटक भी सवंत् १९६७ (प्रसाद जी के प्रथम नाटक 'सज्जन' का रचना-काल) और सवंत् १९९० (प्रसाद जी के अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' का रचना काल) के मध्य लिखे गये। अतः युगीन प्रभाव के कारण इनमें छायावाद की विशेषताओं का आना स्वाभाविक था।

इस सम्बन्ध में द्वितीय कारण यह है कि छायावादी काव्य-धारा का प्रारम्भ प्रसादजी की 'झरना' नामक पुस्तक से माना गया है। इस प्रकार प्रसाद जी छायावाद के प्रवर्तक रहे हैं। छायावाद के प्रवर्तक-कवि के लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपनी अन्य साहित्य-रचनाओं में भी छायावाद की विशेषताओं को अनुस्यूत

करने का प्रयास करता। अतः छायावादी कवि और छायावादी युग से अत्यन्त सम्बद्ध होने के कारण प्रसाद जी के नाटको में इस काव्य-धारा के तत्वों का अनुसन्धान अनुपयुक्त नही है।

छायावाद की भावगत एव कलागत मुख्य विशेषाताएँ ये है:—१. आत्माभिव्यंजकता २. अतीन्द्रिय शृंगारिकता ३. प्रकृति पर चेतना का आरोप ४. आध्यात्मिकता ५. कल्पना का आधिक्य ६. लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य ७. प्रतीक-विधान ८. भाषा-माधुर्य। अब हम इन सब विशेषताओ को प्रसाद जी के नाटको में देखने का प्रयास करेंगे।

सबसे पहले आत्माभिव्यंजकता को ले। आत्माभिव्यजकता का अर्थ है अपने सुख-दुख का वर्णन। यह काव्य का गुण तो हो सकता है, नाटक का नही। नाटक एक सामाजिक-सिद्धि है। उसका कथानक लोक-प्रख्यात या पौराणिक होना चाहिए। यदि काल्पनिक कथानक भी लिया जाए तो वह समाज के लिए कल्याण-कारी होना चाहिए। इस प्रकार अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति के लिए नाटक में अवकाश नही है। प्रसाद जी ने अपने नाटको के कथानको का चयन गुप्त-युग से किया है। हाँ, इन नाटको में आए हुए गीतों मे आत्माभिव्यजकता की भावना अवश्य रही है। क्योंकि गायक- गयिकाओ ने इन में प्राय: अपने ही सुख-दुख (प्रेम और विरह) को व्यक्त किया है।

अतीन्द्रिय शृंगारिकता का भी प्रसाद जी के नाटको मे अभाव रहा है। इन नाटकों की रचना करते समय प्रसाद जी का उद्देश्य राष्ट्रीय गौरव का चित्रण करना रहा है। अतः शृंगार के लिए इनमें अवकाश नही था। पर प्रसाद जी प्रेम और सौन्दर्य के कवि थे। अतः इन नाटकों में भी उन्होंने स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, राक्षस आदि पात्रों की प्रेमिकाओ की कल्पना करके शृंगार-वर्णन के लिए उपयुक्त अवसर खोज लिया हे। ऐसे अवसरो पर प्रेम-वर्णन करते समय नाटककार ने स्थूल और मासल चित्रण करने के स्थान पर हृदय की वृत्तियों को उभारने का प्रयास किया है। अतः हम कह सकते है कि प्रसाद जी के नाटको में यथावसर अतीन्द्रिय शृंगारिक भावनाओ की अभिव्यक्ति हुई है।

छायावाद की एक अन्य विशेषता है—प्रकृति पर चेतना का आरोप। प्रसाद जी ने अपने नाटको में जहाँ भी प्रकृति-वर्णन किया है, वहाँ उसे चेतन रूप में ही प्रस्तुत किया हे। केवल एक उदाहरण देखिये—"पवन एक क्षण विश्राम नही लेता, सिंधु की जलधारा वही जा रही है, वादलो के नीचे पक्षियो का झुण्ड उड़ा जा रहा

६. पुरुष पात्र अपना निश्चित और सुव्यवस्थित रूप लेकर उपस्थित होते हैं। अतः उनके चरित्र में उत्कर्ष या अपकर्ष की सम्भावना नहीं के बराबर प्राप्त होती है। इसीलिए श्यामा और सुवासिनी के चरित्र आम्भीक और चाणक्य से कहीं अच्छे लगते हैं।

चरित्र वैविध्य भी एक कला है, उसमें प्रसाद जी पारंगत थे। इसीलिये प्रसाद जी की नाट्यकला अपने युग में ही नही आज भी विशेष द्रष्टव्य है।

गीतों की विशेषता

प्रसाद जी ने अपने सभी नाटकों में गीतों की योजना की है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है कि नाटक में गीतों को स्थान दिया जाए अथवा नहीं ? आज के समस्या नाटककार गीतों को पूर्णतः अवांछित समझते हैं क्योंकि इनसे वातावरण की गम्भीरता नही रह पाती। यह ठीक भी है। किन्तु, यहाँ यह ज्ञातव्य है कि समस्या नाटक जैसे दो-एक नाट्य-भेदों में तो गीतों को त्याज्य माना जा सकता है, पर नाटक की सम्पूर्ण विधा को इससे वंचित नही किया जा सकता। संस्कृत नाटकों से लेकर आधुनिक युग में लिखे गये नाटकों तक में काव्य या गीतों की न्यूनाधिक योजना अवश्य रही है। संस्कृत नाटक तो प्रायः पद्य में ही लिखे जाते थे और बीच-बीच में गीतों की योजना भी कर दी जाती थी। उदाहरण के लिए कालीदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक को लिया जा सकता है। हिन्दी नाटकों के आरम्भिक युग में पारसी नाटक कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटकों में भी गीतों की बहुलता रहती थी। भरतमुनि ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद का निर्माण करते समय सामवेद से गीत-तत्त्व को लिया था—

'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥'

अतः स्पष्ट है कि यदि कोई नाटककार अपने नाटक में गीत-योजना भी करता है तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। और इसी कारण प्रसाद जी के नाटकों में प्राप्त होने वाले गीत भी अनुचित नही है।

प्रसाद जी के नाटकों के गीतों का केवल ऐतिहासिक महत्व ही न होकर मनोवैज्ञानिक महत्व भी है। अर्थात् इन गीतों की योजना-मात्र परम्परा-पालन के लिए नहीं हुई वरन् इनके माध्यम से पात्रों के चरित्र को उभारने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी का यह गीत लीजिए—

बेला विभ्रम की बीत चली रजनी गंधा की कली खिली।
अब सांध्य मलय-आकुलित दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

नंद-सभा में गाए गए इस गीत के द्वारा सुवासिनी ने राक्षस के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त किया है। ठीक इससे अगले गीत में राक्षस "निकल मत बाहर दुर्बल आह······" द्वारा वह भी प्रत्युत्तर-सा देता हुआ इस बात का संकेत करता है कि वह भी सुवासिनी के प्रति पूर्णतः अनुरक्त है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने इन गीतों द्वारा प्रेक्षक को अपने पात्रो की मानसिक स्थिति से अवगत कराने का प्रयास भी किया है। वस्तुतः "नाटको के गीत पात्रों की आन्तरिक अभिव्यक्ति होने के कारण-चरित्र चित्रण में सहायक होते है। कथानक का विकास भी उनसे होता है। इस प्रकार उनकी नाट्योपयोगिता है।"[1]

प्रसाद जी के नाटको में आए हुए गीतो को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) प्रेम और सौन्दर्य के निरूपक शृंगारिक गीत

(२) राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत गीत।

इनमें भी मात्रा की दृष्टि से प्रथम प्रकार के गीतों का प्रभुत्व है। चन्द्रलेखा (विशाख), मागन्धी (अजातशत्रु), श्यामा (अजातशत्रु), सरमा (जनमेजय का नागयज्ञ) देवसेना, विजया (स्कन्दगुप्त), सुवासिनी (चन्द्रगुप्त), राक्षस (चन्द्रगुप्त), मालविका (चन्द्रगुप्त) आदि के गीतों में प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। स्थान-स्थान पर यह प्रेम रहस्यवाद की ओर भी उन्मुख हो गया है। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत गीतों में 'स्कन्दगुप्त' द्वारा गाया हुआ गीत और 'चन्द्रगुप्त' में अलका द्वारा गाया हुआ गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंगसे प्रबुद्धशूद्ध भारती' लिए जा सकते हैं।

पात्रों की मानसिक स्थिति के परिचायक होने पर भी प्रसाद जी के नाटकों के अधिकांश गीतों का सबसे बड़ा दोष उनकी भाव-बोझिलता है। छायावादी कवि होने के कारण प्रसाद जी के इन गीतों में लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग और सूक्ष्म भावों का निरूपण किया है। अतः विशिष्ट प्रेक्षक वर्ग द्वारा ही इन गीतों का पूरा रस लिया जा सकता है।

किसी-किसी नाटक में प्रसाद जी ने आवश्यकता से अधिक गीतों की योजना कर दी है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के तेरह गीत इसी तथ्य के परिचायक है। केवल चौथे अंक में ही सात गीत आए हैं—जिनमें से तीन अकेली मालविका ने गाये हैं। नाटक में गीतों का इतना अधिक जमघट सरसता में व्याघात ही पहुंचाता है।

प्रसाद जी ने अपने नाटको में कुछ नारी-पात्रो को आत्महत्या करने से पूर्व गाते हुए वर्णित किया है प्रसाद जी के आलोचको ने मृत्यु से पूर्व गीत गाने की इस स्थिति को अस्वाभाविक बताया है। किन्तु हमारे विचार से यह मत ठीक नही है। इस दिशा में प्रसाद जी सम्भवतः शेक्सपियर से प्रभावित रहे हैं। मृत्यु से पहले शेक्सपियर के पात्र आनन्दपूर्वक

[1] डा० प्रेमशंकर—प्रसाद का काव्य, पृष्ठ २६१

चाहे कुछ हो पर नाटक छायावादी नही यदि कही सोचना भी पड़ता है तो सोचने के उपरान्त अभिप्रेत अर्थ समझ में आ जाता है।" यह उक्ति यदि सर्वांश नही तो आंशिक सत्यमयी अवश्य है। क्योकि यह कहना कि नाटक छायावादी प्रभाव से मुक्त है सर्वथा भ्रान्तिमय है। गीतो में यह छायावाद विशेप लक्षित होता है इसे, स्वयं शिलीमुखजी ने आंशिक रूप से स्वीकार भी किया है—

"गीतों की जटिलता का कारण या तो शास्त्रार्थ है या तत्सम भापा में अलंकारो का वहुल प्रयोग। एकाध स्थल पर छायावाद की प्रवृति आ जाने से संपूर्ण नाटक छायावादी नही वन जाता।"

निष्कर्प रूप में यही कहा जा सकता है कि जटिलता के लिए शास्त्रीय पदावली तत्सम भापा में अलकारो का वाहुल्य तथा छायावादी तत्त्व सभी उत्तर-दायी है। केवल मात्रा भेद अवश्य है, वास्तव में हैं सभी।

नाटकों के दोष

जयशकर प्रसाद जहाँ एक कवि के रूप में प्रसिद्ध है वहाँ एक कुशल नाटक-कार के रूप में भी प्रसिद्ध रहे है। भारतीय संस्कृति एवं इतिहास से प्रसाद जी को वहुत प्रेम था। यही कारण है कि इनके नाटको में ऐतिहासिक तत्त्व वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अभिव्यक्त हो सके है। जिस प्रकार इनके काव्य पर कुछ आलोचक-गण, भापा-क्लिष्टता, दार्शनिकता आदि के कारण दोपारोपण करते है, उसी प्रकार इनके नाटको में भी अनेक दोपान्वेपण करने का यत्न करते है। प्रसाद जी के नाटको में अनेक प्रकार के दोष का आरोपण कुछ आलोचक विना सोचे समझे करते है। उन सभी दोपो पर नीचे विचार किया गया है।

अनाभिनेयता—प्रसाद जी के नाटको पर अनाभिनेयता का दोप अत्यधिक लगाया जाता है। कुछ आलोचक तो यहाँ तक कह देते है कि प्रसाद जी भारतीय रंग-मंच से परिचित ही न थे। वास्तव में न तो यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी भारतीय रंगमंच से अपरिचित थे और न ही यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने अपने नाटक रगमच के लिए नही वरन् पढाने के लिए लिखे। वास्तव मे प्रसाद जी अपने युग के कुप्रभाव से वचने और वचाने का यत्न कर रहे थे। उनमें भारतीयता के प्रति अनुराग प्रचुर मात्रा में था। इनके युग में पारसी और व्यवसायी नाटककारो का वाहुल्य था। वास्तव में इनके प्रभाव से ही साहिसिकता पर जो अश्लीलता विदेशी सस्कृति आदि का प्रभाव जोरो पर था वह क्षीण हो सका। इस वात को प्रसादजी ने अनेक स्थलो पर स्पष्ट करने का यत्न किया है। उन्होने अपने ऊपर लगाए गए आरोपो का उत्तर इस प्रकार दिया है—"मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त

शैदा या आगाहश्र की व्यावहारिक रचनाओं के साथ नहीं नापी जानी चाहिए। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नही लिखे जो चार चलते-फिरते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर चार पर्दे मंगनी पर मांग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्के-वाले, खोंमचे-वाले और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह पर प्रहसन करती फिरती हैं।" उपर्युक्त व्यंग्य से प्रसाद जी की अभिरुचि तथा तत्कालीन वातावरण स्पष्ट व्यंजित है।

दृश्यों और अंकों की प्रचुरता—इसमें सन्देह नहीं कि प्रसाद जी के नाटकों में दृश्यों और अंकों की प्रचुरता रंगमंच के लिए उपयुक्त नही, इनसे नाटक अधिक लम्बे बन गए है, जिससे उनके अभिनय मे कठिनता पड़ती है। किन्तु इसका कारण ऐतिहासिक तथ्य एवं वैज्ञानिकता है। प्रसाद जी इतिहास के इतने प्रेमी हैं कि समस्त घटनाओं को प्रस्तुत करने का यत्न करते हैं। परिणामस्वरूप ये नाटक आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए है। अकेले चन्द्रगुप्त नाटक में चार अंक और चौवालीस दृश्य हैं।

दृश्यों का परिवर्तन शीघ्रता से—प्रसाद जी के नाटकों में जहाँ दृश्यों का बाहुल्य है वहाँ दृश्यों का परिवर्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि रंगमंच पर यह सब दर्शाना कठिन है।

अनावश्यक दृश्यों की भरमार एवं वर्जित दृश्यों की उपस्थिति—अनेक ऐसे दृश्य है जिनके हटा देने से नाटक पर कोई प्रभाव नहीं पडता। अर्थात् उनका अस्तित्व कोई विशेष महत्व नहीं रखता। साथ ही अनेक ऐसे दृश्य भी प्रसाद जी की असावधानी से अंकित हो गए है जो रंगमंच के लिए वर्जित हैं, जैसे लड़ाई, नदी, नाँव, हत्या आदि। साथ ही कुछ दृश्यों को आवश्यकता से अधिक बढा कर दिया है।

गीत—छायावाद के प्रवंतक होने के नाते इनके नाटकों पर छायावाद का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। गीति-तत्त्व छायावाद का प्रमुख अंग है। केवल गीति तत्त्व ही नही छायावाद के अन्य तत्त्व भी इनके नाटकों पर खोजने पर अवश्य लक्षित होंगे। उन सभी का पृथक् से विवेचन कर दिय गया है। इन प्रणय और सौन्दर्यपरक गीतों से प्रसाद जी ने पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। किन्तु इनका इतना बाहुल्य है कि अभिनेयता को ठेस लगती है।

दार्शनिकता एवं पात्रों के लम्बे चिन्तन— शैव-दर्शन का प्रसाद जी पर प्रभाव अत्यधिक है। परिणाम-स्वरूप प्रायः प्रत्येक रचना में यह दर्शन अनायास ही व्यक्त हो गया है। साथ ही पात्रों में चिन्तन का समावेश हो गया है जो प्रसाद जी

के व्यक्तित्व की निजी विशेषता थी। इनसे नीरसता का संचार एवं अनाटकीयता प्रस्तुत होती हैं।

लम्बे कथोपकथन—प्रायः सभी कथोपकथन लम्बे नही हैं, किन्तु लम्बे-लम्बे कथोपकथनों की संख्या भी कम नही है। इनके अस्तित्व का एक मात्र कारण दार्शनिकता है। इनसे कृत्रिमता का संरक्षण एवं सरसता का संहार होता है।

भाषा की क्लिष्टता—संस्कृत भाषा तथा दर्शन का ज्ञान होने से क्लिष्टता का समावेश बिना प्रयत्न हो गया है। इस आरोप का उत्तर प्रसाद जी इन शब्दों में देते है—"उन्होंने अपने नाटक खोंमचे वाले या इक्के वालों के लिए नही वरन् सुरुचि सम्पन्न एवं साहित्य-प्रेमियों के लिए लिखे है"।

परिहास का अभाव—दार्शनिक प्रवृति होने से परिहास की अभिव्यंजना प्रायः कुछ ही इने-गिने स्थलों पर हो सकी है। इससे पात्रों में सदैव चिन्तन ही रहता है और जरासी असावधानी से दर्शको में परिहास का उन्नयन हो सकता है।

वास्तव में प्रसाद जी आदर्शवादी कलाकार थे। उनका दृष्टिकोण सत्य के अन्वेषण पर अधिक था। इसके प्रकाशन पर अधिक बल देने से अनेक प्रकार की कृत्रिमता आ गई है। फिर भी जो आलोचक उनके नाटकों पर यह आक्षेप लगाते हैं कि वे रंगमंच के लिए अनुपयुक्त हैं, इसके लिए उनका उत्तर उनके शब्दों में यह है कि—यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाए तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।" प्रसाद जी की यह उक्ति यदि सर्वांश में सत्य नही तो आंशिक सत्य अवश्य हैं।

रंगमंच की दृष्टि से चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त एक ऐतिहासिक नाटक है। जयशंकर प्रसाद इतिहास के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने प्रायः अपनी रचनाओं में ऐतिहासिकता को इसलिए स्थान दिया है ताकि प्राचीन युग आधुनिक मानवों के मानस-पटल पर सजीव रहे। चन्द्रगुप्त में 'प्रसाद जी' ने इसी लक्ष्य को उद्देश्य मान कर इसकी संयोजना की।

भारतीय समाज में नाटक में भाग लेना प्राचीन काल में अच्छा न समझा जाता था। इसीलिए संस्कृत नाटककारों के पश्चात् नाटक की विद्या का खंडन हो गया। किन्तु भारतेन्दु-काल में स्वयं भारतेन्दु जी ने इस विद्या की स्थापना पुनः की। इस विद्या में रुचि न होने के कारण प्रायः हिन्दी के नाटककार रंगमंचीय गुणों से अनभिज्ञ रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि इनके नाटक केवल श्रव्य गुण को लेकर अवतरित हुए और उनमें दृश्यात्मकता का अभाव रहा। प्रायः प्रसाद जी

के नाटकों पर यह दोषारोपण भी किया जाता है। चन्द्रगुप्त के अनाभिनेय होने के निम्नलिखित कारण हैं—

१. आकार में दीर्घता—निसन्देह इनके सभी नाटक इस दोष से दूषित हैं। चन्द्रगुप्त में भी यह अवगुण है। इस नाटक के चार अंक हैं और ४४ दृश्य हैं। अतः इस दीर्घता के कारण इनका अभिनेय थोड़े समय में एवं सरलता से नहीं हो पाता।

२. चिन्तन की प्रधानता—प्रसाद जी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। प्रायः उनके नाटकों के नायक भी इससे मुक्त न हो सके। स्कन्दगुप्त में यह तत्त्व प्रचुर मात्रा में है। इधर चन्द्रगुप्त में एवं अन्य पात्रों में भी यह तत्त्व ओझल न हो सका।

३. घटनाओं का जमघट—नाटक में ऐतिहासिकता के मोह से इतने मोहित हो जाते हैं कि घटनाओं का जमघट लगा लेते हैं। उनका नियोजन रंगमंच पर असम्भव है।

४. दृश्य-परिवर्तन की प्रचुरता—इनके नाटकों में दृश्य इतने अधिक हैं कि उनके रंगमंच पर प्रस्तुत करने पर अवश्य असावधानी होगी। इस नाटक में ४४ दृश्य हैं। दृश्य परिवर्तन भी बड़ी जल्दी होता है।

५. घटनाओं के केन्द्रीयकरण का अभाव—अधिक घटनाएँ होने के कारण उन्हें सुचारु रूपसे प्रस्तुत नहीं कर पाते। इसी कारण इस नाटक का नायक कौन है इस पर विवाद प्रायः होता है, क्योंकि राक्षस एवं चाणक्य दोनों को प्रमुखता दी गई है।

६. वर्ज्य दृश्यों की योजना—अनेक ऐसे दृश्यों की योजना है जो वर्ज्य है, जैसे नदी में नाव चलाना, युद्ध स्थल आदि।

७. अभिनयोचित भाषा-परिवर्तन का अभाव—प्रायः इनके सभी पात्रों की भाषा एक-सी है। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न भाषा के प्रयोग का अभाव है। जिससे कृत्रिमता का आगमन हो गया है। कथोपथन लम्बे हैं एवं उनमें दार्शनिकता का प्राचुर्य है।

८. गीत—गीत इतने अधिक हैं कि अभिनेय नहीं किए जा सकते। यह गुण दोष का रूप धारण कर गया है।

ये दोष प्रसाद जी के काल में ही इन पर आरोपित किए गये थे। इनका उत्तर प्रसाद ने स्वयं दिया था—'मेरी रचनाएं तुलसीदत्त शैदा एवं आगाहश्र जी की व्यावहारिक रचनाओं से नहीं नापी जानी चाहिएं। मैंने कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे जो चलते-फिरते दुअन्नी या अठन्नी के टिकट पर चलते हुए राहगीरों, खोंमचे वालों, ताँगे वालों आदि को चार पर्दे मंगनी पर माँग कर दिखा देते हैं। मैंने नाटक सुरुचि परिष्कृत एवं शुद्ध साहित्यकों के लिए लिखे हैं।'

इसमें भी कोई सन्देह नही है कि इनके नाटक साधारण जनता के लिए नही है। इनका आस्वादन साहित्यक जन ही कर सकते है। यदि हम इनको रंगमंच पर अभिनय के लिए लाना ही चाहते है तो हम ऐसा कर तो सकते है। उसके लिए हमें इसके कुछ अंशों को अवश्य छोड़ना पडेगा तथा बड़ी सावधानी एवं सतर्कता का ध्यान रखना पड़ेगा। इस तरह इस चन्द्रगुप्त नाटक का अभिनय किया जा सकता है।

नि.सन्देह इसमें नाटक के समस्त अवयवों का संयोजन है। जैसे—कथा की पाँच अवस्थाएँ—१. प्रारम्भ, २. प्रयत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति, ५. फलागम पाँच संधियां—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्प, निर्वहण; पाँच अर्थ प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य। इन सभी अवयवो से यह नाटक पूर्ण है।

चन्द्रगुप्त का नायक

नेता शब्द का निर्माण 'नी' धातु से हुआ है जिसका अर्थ 'ले चलना' है। नाटक में नायक या नेता शब्द पर्यायवाची है। अर्थात् वह प्रधान पात्र को जो कथा को फलागम की ओर ले जाता है वही नायक के अर्थ का द्योतक है। पाश्चात्य विद्वान अरस्तु का भी विचार नायक के सम्बन्ध में कुछ ऐसा-सा ही है। उनके अनुसार जिस पात्र की अभिव्यक्ति नाटक में अत्यधिक हो वही नायक या 'हीरो' है। कतिपय विद्वानो की दृष्टि में नायक वह पात्र होता है जिस पर नाटककार (रचनाकार) का ध्यान सबसे अधिक रहता है। वास्तव में इन सभी विचारो में तात्विक अन्तर कोई नही है। केवल शाब्दिक भेद है। सभी आलोचक केवल शब्द-भेद से एक ही बात कहते है।

यहाँ प्रमुख प्रश्न यह है कि चन्द्रगुप्त नाटक मे नायक कौन-सा पात्र है? वास्तव में नायक को पहचानने की कुछ कसौटियाँ है। यदि कोई पात्र उन पर खरा उतरता है तो वह उक्त रचना का नायक कहलाने के योग्य हो सकता है। चन्द्रगुप्त नाटक के नायक को भी इन निम्नलिखित कसौटियों पर कस कर देखते है—

१. कथा को विकासोन्मुख बनाने वाला पात्र कौन है? जो प्रमुख कथा को विकासोन्मुख करके फलागम की ओर ले चलता है वह नाटक का नायक होता है। इन दृष्टि से चन्द्रगुप्त और चाणक्य दो पात्र प्रमुख रूप में द्रष्टव्य हैं। यदि इस आधार पर नायकत्व की परीक्षा की जाय तो चाणक्य का चरित्र अधिक प्राथमिकता लिए हुए है। यही समस्त कथा का सूत्रधार है। कथा के समस्त सूत्र चाणक्य के हाथ में है। अर्थात् चन्द्रगुप्त का जीवन और भाग्य चाणक्य के इशारे पर चलते है। अन्य पात्र भी चाणक्य की नीति का अनुसरण करते हैं जिससे फल

की प्राप्ति होती है। इन दोनों पात्रों का अस्तित्व आरम्भ से अन्त तक रहता है। अतः दोनों कथा के विकास में पर्याप्त योग देते हैं। इसलिए किसी एक को इस कसौटी के आधार पर नायक मानना न्यायसंगत नही।

२. फलागम का भोक्ता कौन ? फलागम या उद्देश्य के साधक की दृष्टि से यदि चिन्तन किया जाए तो नायक निर्धारित करना सरल नही है। फल का भोक्ता एक दृष्टि से चन्द्रगुप्त ठहरता है। क्योंकि चन्द्रगुप्त को स्वराज्य तथा कार्नेलिया दोनों प्राप्त होते हैं। चाणक्य की दृष्टि से नन्दवंश का नाश, राक्षस पर विजय और चन्द्रगुप्त को राजा बनाना ही प्रमुख उद्देश्य था। इसमे कोई सन्देह नही कि ये सभी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस कार्य में चाणक्य को सिद्धि मिलती है और इस सिद्धि के लिये उसके प्रयत्न निरन्तर होते रहे हैं। अतः उद्देश्य का साधक एवं सूक्ष्म दृष्टि से फल का भोक्ता चन्द्रगुप्त न होकर चाणक्य ही है। साथ ही फल का भोग जितना महत्त्वपूर्ण है उद्देश्य का साधन भी उससे कुछ कम नहीं है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व को ठेस लगती है। यद्यपि दोनों साधक हैं। यदि एक कर्ता है तो दूसरा नियन्ता। अतः किसी एक को इन परिस्थितियों में प्राथमिकता दे सकना सम्भव नही है।

३. अनुभूति की प्रेषणीयता ? यह तो सर्वविदित है कि कवि अनुभूति का प्रेषण करता है और नायक कवि अनुभूति के प्रेषण की क्रिया का माध्यम है। चन्द्रगुप्त नाटक में मूल प्रेषणीय अनुभूति देश-वैभव या राष्ट्रीय प्रेम है। प्रसादजी ने इसे ही सम्वेद्य बनाया है। यद्यपि इस कसौटी पर भी दोनों पात्र पूरे उतरते है। इन दोनों में राष्ट्र-प्रेम की भावना तीव्र है। सापेक्षित दृष्टि से इस कसौटी पर चाणक्य का व्यक्तित्व अधिक प्रखर है। चाणक्य में उत्कट उत्सर्ग, उत्साह और संयम है। प्रेषण की भावना का तादात्म्य चन्द्रगुप्त की अपेक्षा चाणक्य से अधिक होता है।

४. नाटककार का ध्यान किस पात्र पर अधिक है ? इस दृष्टि से यह देखना कि नाटककार का ध्यान किस पात्र पर केन्द्रित है। इस दृष्टि से सम्भवतः चन्द्रगुप्त ही नायकत्व का अधिकारी है। आरम्भ में इसी का व्यक्तित्व सम्मुख आता है। उसी के सजीव व्यक्तित्व के ऐतिहासिक पुनः सृजन के लिए प्रसाद जी ने सचेष्ट प्रयत्न किया है। नाटककार ने चाणक्य के माध्यम से उसी के क्षत्रियत्व को सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। उनके मन में यह धारणा रही है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय-कुलोद्भव था। प्रसाद पूर्ववर्ती नाटकों में चाणक्य का व्यक्तित्व अधिक प्रखर था। परिणामस्वरूप वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली था। किन्तु प्रसाद

जी ने इस दोष को दूर करने का यत्न किया है। जैसे 'चिन्ता क्या सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें डर क्या। सैनिकों? सुन लो आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं।" इस वाक्य से स्पष्ट है कि नाटककार चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करना चाहता है। साथ ही नाटक का नाम भी चन्द्रगुप्त रखकर यह सिद्ध किया है कि इसे ही नायक बनाया जाए। जिन विद्वानों ने चन्द्रगुप्त को नीच कुल का माना था उनके सन्देह का समाधान निम्नलिखित शब्दों में किया है। "आर्य क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला; वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। ....ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा। राजन्य-संस्कृति से पूर्ण मनुष्य को मूर्धाभिषिक्त बनाने में दोष ही क्या है?" अतः चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय सिद्ध करके नायक पद पर सिद्ध करने का यत्न किया है।

५. रस की दृष्टि से—रस की दृष्टि से नायकत्व का चिन्तन भी अवैज्ञानिक नहीं। चन्द्रगुप्त का सम्वेद्य रस वीर रस है तथा इस का पोषक शृंगार और नियामक शान्त रस है। केवल एक स्थल पर चाणक्य के व्यक्तित्व से वीर और शृंगार का प्रस्फुटन होता है। कुछ स्थलों पर चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में भी शान्त रस मुखरित होता है। इस दृष्टि से चाणक्य का चरित्र चन्द्रगुप्त की आभा से आच्छादित हो जाता है।

निष्कर्ष यही निकला कि चाणक्य समस्त घटनाओं का केन्द्र है परन्तु फिर भी नायक नहीं। क्योंकि प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को आर्य कुलोद्भव सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है। जिससे प्राचीन नाट्य शास्त्रानुकूल इनका नायक सिद्ध हो सके। उन सभी गुणों की अभिव्यंजना प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के चरित्र में की है। साथ ही प्रमुख रस का पोषक भी चन्द्रगुप्त ही है। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक है।

प्रसाद और भारतेन्दु में तुलना

(१) दोनों ही भगवान् शंकर की नगरी काशी के अधिवासी थे। दोनों ही नाटक-साहित्य के प्रमुख महारथी थे। भारतेन्दु ने नाटकों का श्रीगणेश किया तो प्रसाद ने उसे विकसित और उन्नत बना दिया।

(२) भारतेन्दु ने धार्मिक और सामाजिक नाटकों की ओर अधिक ध्यान दिया। प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना की तथा नवीन विषयों की खोज कर इस साहित्यिक क्षेत्र को और विस्तृत किया।

(३) भारतेन्दु में प्राचीनता के प्रति मोह और नवीनता के प्रति अनुराग दोनों ही मिलते हैं। अतः प्रस्तावना आदि का सर्वथा त्याग इन्होंने नहीं किया है। इनमें प्रगतिशीलता और रूढ़िवादिता दोनों ही मिलती हैं और उसी गंगा-जमुना धारा में नाटकों का विकास हुआ है।

प्रसाद ने प्राचीन और नवीन दोनों को मिलाकर एक नवीन मार्ग का सृजन किया है। प्रस्तावना आदि का त्याग तो इन्होंने किया है।

(४) भारतेन्दु के नाटकों मे खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों ही मिलती हैं। पद्य के लिये ब्रज और गद्य के लिये खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है। किन्तु प्रसाद ने दोनों के लिए एक मात्र खड़ीबोली का प्रयोग किया है।

(५) भारतेन्दु के नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है, किन्तु प्रसाद के नाटक साहित्य प्रधान हैं और रंगमचीय वातावरण की कमी है। भाषा की क्लिष्टता, भावो की दुरूहता, गीतों की दार्शनिकता आदि उपयुक्त नहीं हैं।

(६) भारतेन्दु के नाटकों में घटना की प्रधानता है। चरित्र-चित्रण कम हुआ किन्तु प्रसाद के नाटकों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता है।

(७) भारतेन्दु में इतिवृत्तात्मकता है और प्रसाद में भावुकता अधिक है।

(८) भारतेन्दु में आदर्शवादिता है और प्रसाद में यथार्थ और आदर्श दोनों ही हैं।

(९) भारतेन्दु के पात्रों में चारित्रिक विकास और द्वन्द्व आदि के अभाव में नाटक में गति नहीं, शैथिल्य हैं, किन्तु प्रसाद के नाटकों में चारित्रिक विकास तथा अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष दोनों ही मिलते हैं।

(१०) भारतेन्दु के नाटकों में हास्य और व्यंग्य तथा कौतूहल एवं श्रृंगार रस की मात्रा अधिक है। किन्तु प्रसाद के नाटकों में अन्तर्वेदना और करुण रस की प्रधानता के साथ श्रृंगार रस का पुट है।

(११) दोनों ही हिन्दी नाट्य क्षेत्र के अमूल्य रत्न हैं। यदि एक इस धारा का प्रतिष्ठापक है तो दूसरा उसका पोषक। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में विशेष हैं।

प्रसाद जी का प्रभाव व्यापक क्यों नहीं

भारतेन्दु युग के साहित्यिक नाटकों की जो परम्पराएँ थीं, प्रायः वही प्रसाद युग तक निरन्तर चलती रहीं। यह सत्य है कि भारतेन्दु की नाट्यकला का जितना व्यापक प्रभाव उनके समकालीन और परवर्ती अन्य नाटककारों पर पड़ा, उतना प्रसाद की नाट्य कला का प्रभाव उनके समकालीन या परवर्ती

अन्य नाटककारो पर नहीं पड़ा। यद्यपि यह आश्चर्य की बात अवश्य है क्योंकि कम से कम ऐतिहासिक नाटक धारा पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, फिर भी उसके प्रभाव के न पड़ने के सम्भवतः प्रमुख दो कारण है।

प्रथम कारण तो यह है कि प्रसाद का व्यक्तित्व इतना महान और व्यापक था कि उसने दूसरे लेखकों के व्यक्तित्व को अपने नीचे दवा दिया। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको में जो बातें मिलती है, वह अन्य रचनाओं में नहीं मिलती। इन्होंने अपनी गवेषणा शक्ति का जितना परिचय दिया है वह साधारण नाटककारों की शक्ति से बाहर की वस्तु है। जिस प्रकार सूर और तुलसी की कृष्ण और राम सम्बन्धी रचनाओ को पढ़कर आनन्द प्राप्त होता है। वह आनन्द उसी विषय को लेकर लिखे गये अन्य कवियो की रचनाओं में तुच्छ-सा प्रतीत होता है, और उसमे कोई आकर्षण नही मिलता। क्योंकि सूर और तुलसी की काव्य प्रतिभा ने साहित्य की जिस पराकाष्ठा को छुआ है, वहाँ तक पहुँचना अन्य कवियों के लिए असम्भव है। इसी प्रकार से हम कह सकते हैं कि प्रसाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा से निर्मित नाटकों की विशेषताओं को प्राप्त करना तत्कालीन नाटककारो के लिये अत्यन्त दुर्लभ था।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी लेखकों में कोई भी साहित्यिक व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसका अध्ययन इतना व्यापक हो जो दार्शनिक और ऐतिहासिक तत्वो को अपनी भावुकता के साथ कल्पना के सूत्र में पिरोकर उपस्थित कर सके, तथा इस बुद्धिवाद और वैज्ञानिक युग की शिक्षित जनता के सामने अपने उद्योग से कोई नवीन और मौलिक वस्तु भी रख सके।

कुछ लोग इन दो कारणों के अतिरिक्त एक तीसरे कारण को भी मानते हैं, ऐसे व्यक्तियों का यह मन्तव्य है कि प्रसाद जैसे साहित्य के निर्माता का अभाव देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। जिनसे जनता को अपने में ही व्यस्त रहना पड़ा, और साहित्यिक लेखकों को भी इतना शांतिमय समय नही मिला कि वे उच्चकोटि के साहित्य की रचना कर सकें।

किन्तु यह तर्क भी कोई वलशाली नही है, क्योंकि साहित्य का सृजन प्रतिकूल अवस्थाओं में भी होता रहता है। यह कहा जा सकता है कि अनुकूल या प्रतिकूल कैसी भी परिस्थिति हो, किन्तु उसमें जीवन की प्रगति किसी प्रकार से नहीं रुकती। वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है। वैसे ही जीवन का प्रतिबिम्ब साहित्य की गति भी कभी किसी प्रकार से रुकती नही।

यदि इस विषय का सूक्ष्म मनन किया जाय तो इस अभाव के कुछ अन्य कारण अवश्य लक्षित होंगे। वे प्रमुख न होने पर भी विशेष द्रष्टव्य है। उनका विवेचन नीचे किया गया है—

१. प्रसाद का कवि-व्यक्तित्व विशेष प्रबल रहा है। नाटको की रचना करते समय भी यह व्यक्तित्व अनेक स्थलो पर उभर गया है। उदाहरणस्वरूप अनेक स्थलों पर गीतों के रूप में मुखर हुआ है। इनके कवि व्यक्तित्व में भी छायावादी व्यक्तित्व प्रधान रहा है। इसका कारण इनका छायावादी प्रवर्तक होना था। इससे प्राकृतिक सौंदर्य की प्रचुरता रही है।

२. इतिहास एवं भारतीय संस्कृति के प्रेमी होने के कारण भी इनके नाटको में जो जटिलताएँ उत्पन्न हो गई है उनका अन्य लेखको ने त्याग किया। प्रसादजी की इस भावना ने दार्शनिकता को जन्म देकर भाषा में क्लिष्टता को जन्म दिया।

३. प्रसादजी ने संस्कृतनिष्ठ भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाया। इस वृत्ति का बहुत कम साहित्यकारों ने स्वागत किया।

इस प्रकार यह सत्य है कि प्रसाद की रचनाओं का प्रभाव तत्कालीन नाटक रचनाओं पर नही पड़ सका।

समकालीन नाटक-साहित्य

प्रसाद के समकालीन नाटक-साहित्य की रचनाएँ निम्नलिखित रूप में मिलती है—१. मौलिक २. प्रहसन और ३. अनुवादित।

मौलिक—मौलिक रचनाओ की निम्नलिखित धाराएं हैं—

१. पौराणिक धारा २. ऐतिहासिक धारा ३. राष्ट्रीय धारा ४. समस्या प्रधान धारा और ५. प्रेम-प्रधान नाटक धारा। आगे इन धाराओं का क्रमशः विवरण दिया जाता है।

१. पौराणिक धारा—इस धारा की तीन उपधाराएँ हैं—(क) रामचरित धारा (ख) कृष्ण धारा (ग) पौराणिक धारा।

(क) राम-चरित धारा—इसमें केवल दो उल्लेखनीय नाटक लिखे गये हैं—१. दुर्गादत्त पांडेय कृत राम नाटक और कुन्दनलाल शाह का रामलीला नाटक। ये नाटक कार्य व्यापार की दृष्टि से लिखे गये हैं न कि साहित्यक दृष्टि से। इनमें रामलीला का ही तत्त्व है। इसके पात्र अधिकतर पद्य में ही बोलते हैं और कहीं-कही गद्य का प्रयोग हुआ है।

(ख) कृष्ण धारा—यद्यपि इस धारा में भी कई नाटक लिखे गये हैं। परन्तु उनमें 'वियोगी हरि" लिखित "छद्म योगिनी" नाटक सर्वोत्तम है। इसमें भगवान कृष्ण की छल लीला की कथा का वर्णन है। यद्यपि इसमें नाटक के सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु कविता की अधिकता होने के कारण यह भक्ति-भावना का पाठनीय दृश्य काव्य हो गया है।

(ग) अन्य पौराणिक आख्यान धारा—इसमें निम्नलिखित प्रमुख नाटक रचनाएँ हैं—

मैथिलीशरण गुप्त	कृत	तिलोत्तमा, चंद्रहास और अनघ
विश्वम्भर	,,	भीष्म
शिवनन्दन मिश्र	,,	उषा
द्वारकाप्रसाद गुप्त	,,	अज्ञातवास
बदरीनाथ भट्ट	,,	वेन चरित
मिश्र बन्धुओं का	,,	पूर्व भारत और उत्तर भारत
सुदर्शन	,,	अंजना
गोविन्दवल्लभ पन्त	,,	वरमाला
कामताप्रसाद गुरू	,,	सुदर्शन

उक्त नाटकों में से बदरीनाथ भट्ट का वेन-चरित और पन्त का वरमाला तथा सुदर्शन का अंजना नाटक साहित्य की दृष्टि से उपयोगी हैं।

उक्त धारा के नाटकों में केवल पौराणिक कथानक मात्र है। प्रायः पात्र भी वे ही हैं। घटनाओं का रूप भी वही है, परन्तु विषय का प्रतिपादन इन नाटककारों ने अपने विचार से किया है। इन नाटकों का प्रधान लक्ष्य प्राचीन कथानक को नूतनता की दृष्टि से देखना है। इसमें देश की तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

२. ऐतिहासिक धारा:—ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर लिखे गए नाटकों में निम्नलिखित नाटककारों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

सुदर्शन	कृत	दयानन्द
बलदेवप्रसाद मिश्र	,,	मीराबाई
बेचन शर्मा 'उग्र'	,,	महात्मा ईसा
चन्द्रराज भंडारी	,,	सिद्धार्थ कुमार और सम्राट अशोक
प्रेमचन्द	,,	कर्बला

बद्रीनाथ भट्ट	,,	दुर्गावती
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'	,,	प्रताप-प्रतिज्ञा
वियोगी हरि	,,	प्रबुद्ध-योमुन
उदयशंकर भट्ट	,,	चन्द्रगुप्त मौर्य और विक्रमादित्य
सेठ गोविन्ददास	,,	हर्ष

उक्त नाटकों में दयानन्द, मीराबाई, महात्मा ईसा में और प्रबुद्ध-योमुन नाटक-संत चरित्रों को लेकर लिखे गये हैं। इनमें चरित्रों की प्रधानता है। इन रचनाओं से उन महात्माओं की जीवन घटनायें उनके कष्ट और दृढ़ धार्मिक भावनायें ज्ञात होती हैं। इन नाटकों में "महात्मा ईसा" सबसे अधिक सुन्दर नाटक है। *ईसा की जीवन घटनाओं के साथ ही प्रथम दृश्य में ही लेखक ने यह दिखाया* है कि महात्मा ईसा संन्यासी के वेश मे काशीपुरी में प्रवेश करते हैं और अपने गुरु विवेकाचार्य का आश्रम खोजते हैं।

प्रथम अंक में यह पता लगता है कि ईसा को अपनी माता को छोड़ बारह वर्ष हो गये हैं और वह उसे देखने के लिये व्याकुल है। इस नाटक की घटना से प्रतीत होता है कि ईसा भारत में आये थे।

यह नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों की दृष्टि से उत्तम हैं। कथावस्तु के सम्बन्ध का निर्वाह और सम्वादों की सजीवता आदि के साथ वीर, करुण और शान्त रस का सफल प्रयोग हुआ है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने वाले संगीत भी इसमें उत्तम हैं। इस नाटक में हिन्दू, मुस्लिम और समस्त जातियों में एकता की भावना भी मिलती है।

जगन्नाथप्रसाद का "प्रताप-प्रतिज्ञा" नाटक भी स्वदेश प्रेम की भावना से ओतप्रोत है। इसमें महाराणा प्रताप की प्रसिद्ध घटनाओं का चित्रण हुआ है। शक्ति-सिंह का भ्रातृद्वेष, भामाशाह की स्वामी-भक्ति, राजपुरोहित की आत्महत्या, हल्दी घाटी का युद्ध आदि का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस नाटक में लेखक ने अपनी कल्पना के बल से वीरता, उल्लास, उत्साह और त्याग के अपूर्व चित्र अंकित किये हुए हैं।

नाटकीय कला की दृष्टि से प्रताप-प्रतिज्ञा नाटक हिन्दी नाटकों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

उदयशंकर भट्ट जी की आरम्भिक रचनाये नाट्य शास्त्र की दृष्टि से विशेष उत्तम नहीं हैं। रेडियो रंगमंच पर इनके नाटक आज भी खेले जाते हैं, क्योंकि आप यहां पर ही कार्य करते रहे हैं।

सेठ गोविन्ददास का "हर्ष" थानेश्वर के राजा हर्ष का जीवन घटनाओं को लेकर लिखा गया नाटक है। नाटक की दृष्टि से यह सुन्दर नाटक है। प्रसाद जी के राज्यश्री के कथानक को इससे पूर्णता मिल सकती है।

३. राष्ट्रीयधारा—इस धारा के नाटकों में देश-प्रेम की भावनायें प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। प्रस्तुत नाटक इस धारा में उल्लेखनीय हैं—

काशीनाथ वर्मा	का	समय
प्रेमचन्द	,,	संग्राम
कन्हैयालाल	कृत	देश दशा
लक्ष्मण सिंह	,,	गुलामी का नशा

इन नाटकों में प्रेमचन्द का 'संग्राम' चिन्तात्मक धारा का प्रतिनिधि नाटक है। इसमें किसान, जमींदार और पुलिस तीनों अपने अधिकार का प्रयोग करते हैं। अन्त में किसान वर्ग की जीत होती है। जमींदार को हटाकर सरकार से उनका साक्षात सम्बन्ध होता है और सुख का साम्राज्य छा जाता है। प्रस्तुत नाटक में काँग्रेस के आदर्श की छाया विद्यमान है।

४. समस्या-प्रधान धारा—इस धारा की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं—

गोपाल दामोदर	कृत	राधा माधव
श्रीवास्तव	,,	अछूत
छविनाश पांडे	,,	समाज
लक्ष्मीनारायण मिश्र	,,	संन्यासी, राक्षस का मन्दिर और मुक्ति-का रहस्य
प्रेमचन्द	,,	प्रेम की वेदी

उक्त नाट्य रचनाओं के विषय पुस्तकों के नाम से ही ज्ञात हो जाते हैं। इनमें समाज की विषमता, कर्मयोग, अछूतोद्धार आदि की समस्याएं हैं।

'प्रेम की वेदी' में एक मध्यम ईसाई परिवार का दृश्य है। यह विवाह की समस्या को लेकर लिखी गई एक नाटिका है। 'जेनी' ईसाई होते हुए भी योगराज से विवाह करना चाहती है। परन्तु उसमें धर्म बाधक होता है। उसका एक प्रेमी विलियम भी है। इसमें यही समस्या है कि प्रेम की वेदी पर वासनात्मक प्रेम और धर्म इन दोनों में किसका बलिदान किया जाय। अन्त में माता की आज्ञा पाकर जेनी ने धर्म का बलिदान दिया। इस नाटिका में प्रेमचन्द की आदर्शवादिता प्रकट हुई है, परन्तु कथावस्तु का विकास और चरित्र-चित्रण नहीं हो सका।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक इस धारा के प्रमुख नाटक हैं। इनसे पूर्व के नाटककारों ने सामाजिक कुरीतियों में सुधार की आवश्यकता पर ध्यान दिया था। किन्तु मिश्र जी ने तत्कालीन समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। इन्होंने तर्क और बुद्धि को अपना शस्त्र बनाया है। वे समस्या की गहराई में पहुँच कर वहीं से उसका समाधान चाहते हैं।

इनके नाटकों में व्यक्तियों की समस्या हैं, समस्त समाज की नहीं। मिश्र जी के संन्यासी में दो समस्यायें प्रधान हैं। एक है नारी की समस्या और दूसरी है जाति-रक्षा की। स्त्री को अपने व्यक्तित्व के लिये क्या अधिकार मिलने चाहिएं। क्या वह कन्या, पत्नी और मातृत्व के रूप में सदा परतन्त्र है आदि समस्याओं को बुद्धिवाद के द्वारा सुलझाया गया है। जाति-रक्षा की समस्या में भी वर्तमान दासता से छूटकर स्वतंत्रता की साँस लेने के लिए संन्यासी में अहमद का व्यक्तित्व बड़ा सबल है। इसी प्रकार 'राक्षस का मन्दिर' और 'मुक्ति का रहस्य' नाटकों में भी नारी-समस्या के ही विषय अपनाए गए हैं।

५. प्रेम-प्रधान नाटक धारा—इस धारा में दुर्गादत्त पाँडेय का "चंद्राननी" व्रजनन्दन साह का 'उपांगिनी' और धनीराम का 'प्राणेश्वरी' नाटक मिलते हैं। उपांगिनी में संस्कृत प्रणाली की परम्परा का प्रयोग हुआ है। इन नाटकों में सुधारवाद और उपदेश का प्राधान्य है।

प्रहसन—प्रहसन पृथक् रूप से पहले नहीं लिखे गये थे। वे मनोरंजन के लिए नाटक में जोड़े जाते थे। स्वतन्त्र रूप से जो प्रहसन लिखे गये हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

जी०पी० श्रीवास्तव	कृत	"उलट फेर और भूलचूक आदि"
गोविन्दवल्लभ पन्त	,,	"कंजूस की खोपड़ी"
बदरीनाथ	,,	"लबड़धोंधो", "विवाह-विज्ञापन" और "मिस-अमरीकन"
सुदर्शन	,,	"आनरेरी मजिस्ट्रेट"
हरिशंकर प्रसाद	,,	'भारत दर्शन' आदि प्रहसन प्रसिद्ध हैं

श्रीवास्तव का हास्य उच्चकोटि का नहीं है। इनके प्रहसनों में शिष्ट हास्य की कमी है। सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' प्रहसन उत्तम हैं। इसमें सरकारी पिट्ठुओं के आनरेरी मजिस्ट्रेट बन जाने से शासन और न्याय का गला कैसे घोंट दिया जाता है। बुद्धिहीन अशिक्षित उस पद पर पहुँच कर उसका दुरुपयोग कैसे करता है, इन सभी बातों का चित्र सुदर्शन जी ने खींचा है।

भट्ट जी के 'लवड़-धोंधों तथा विवाह-विज्ञापन और मिस अमरीकन' प्रहसन अनुपम हैं। इनमें हास्य भी उच्चकोटि का है । इनके प्रहसनों को देखकर यह सिद्ध होता है कि भट्ट जी सफल प्रहसन लेखक थे। इसके अतिरिक्त "भारत दर्शन" नाटक भी सुन्दर है। इसमें तत्कालीन असहयोग आन्दोलन और कौन्सिल की उम्मेदवारी आदि के दृष्य को दिखाकर राष्ट्रीय चेतना का सजीव हास्यमय चित्र चित्रित हुआ है।

अनुवाद

इस युग में भी पूर्व परम्परा के अनुसार संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला तथा अन्य भाषाओं से अनुवाद एवं रूपान्तर हुए हैं।

१. संस्कृत—संस्कृत के अनुवादों में भवभूति के 'मालती माधव' का अनुवाद सत्य नारायण ने किया। कालीदास के 'मालविकाग्निमित्रम्" नाटक का गद्य और पद्य में सुन्दर अनुवाद विजेयानन्द त्रिपाठी ने किया। गुप्त जी ने महाकवि भास के "स्वप्नवासवदत्तम्" नाटक का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त हर्ष के "नागानंदम् का भी सुन्दर अनुवाद हुआ।

इन अनुवादो का हिन्दी नाटक रचना पर प्रत्यक्ष प्रभाव नही पड़ा केवल संस्कृत के नाटककारों से कुछ परिचय मात्र मिलता है।

२. अंग्रेजी—लाला सीताराम ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद हिन्दी में किया है। लाला जी का अनुवाद भावानुवाद है। इसमें अंग्रेजी न जानने वालों के लिये भी यह अनुवाद अच्छा है। इनके अनुवादों में पात्रों के नाम-धाम सब मूल नाटको के अनुसार है।

इसके बाद टाल्स्टाय के तीनों नाटकों का अनुवाद 'कलवार की करतूत' 'अंधेरे में उजाला' और 'जिन्दा लाश' सस्ता साहित्य मण्डल अजमेर से निकले। फ्रांसीसी मोलियर के प्रहसनों का भी अनुवाद हुआ। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार "जान गार्ल्सवर्दी" के नाटको का अनुवाद प्रयाग के हिन्दुस्तानी एकेडमी ने कराया। इनके अतिरिक्त बेलजियम के प्रसिद्ध कवि मेटरलिक और जर्मन कवि शीलर के नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ है।

३. बंगला—अनुवादो में सबसे अधिक बगला नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। इन अनुवादो में सबसे अधिक अनुवाद द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का है। इसके सभी ऐतिहासिक नाटक प्राय: मुगलकाल के विषय को लेकर लिखे गये है। राणा प्रताप, दुर्गादास, मेवाड़-पतन, शाहजहाँ आदि नाटक इस काल के हैं। इनके नाटकों में तीन विशेषताएँ मिलती है—

(क) वाह्य द्वन्द और अन्तर्द्वंद्व (ख) हिन्दू-मुस्लिम एकता (ग) नारी की महत्ता।

इन नाटकों में पुरुष पात्रों के प्रेम, कट्टरता, स्वामी-भक्ति और महत्वाकांक्षाएँ चमक उठी हैं। इनके अतिरिक्त 'महामाया', 'रेवा', 'कल्याणी' आदि हिन्दू नारियों में वीरता, प्रेम और साहस आदि का चित्रण हुआ है। हिन्दू आदर्श को लेकर लिखे गये सीता, भीष्म, चन्द्रगुप्त आदि नाटक भी इनके उत्तम हैं।

प्रसाद जी को छोड़कर प्रायः अन्य सभी नाटक लेखकों की रचनाओं पर इनका प्रभाव पड़ा है। विद्यार्थी समाज में इनके नाटक सबसे अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

रवीन्द्र बाबू के नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ है। डाक घर, विसर्जन, राजा-रानी और चित्राङ्गदा आदि प्रसिद्ध नाटक हैं। परन्तु इन नाटकों का कोई व्यापक प्रभाव नही पड़ा। इनके अतिरिक्त गुजराती और मराठी के भी कुछ नाठकों का अनुवाद किया गया लेकिन वे सभी विशेष महत्त्व के नहीं हैं।

विशेपताएँ

इस युग की नाटकीय विशेपताओं के विपय में निम्नलिखित बातों का अधिक ध्यान रखना चाहिये—

१—इस युग में प्रसाद का व्यक्तित्व सर्वोपरि है।

२—साहित्यिक और रंगमंचीय दोनो नाटको में प्राचीनता के प्रति अनुराग मिलता है।

३—देश प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम एकता और नारी की स्वतंत्रता आदि विपयों की प्रधानता है।

४—इस युग में रोमांस और भावुकता की गहरी छाप मिलती है।

५—इस काल के लेखकों ने नारीत्व के मूल तथा उसकी शक्ति को पहचान कर उसको उच्च आसन पर बिठाया है।

६—भावना और तर्क दोनों के आधार पर भविष्य का निर्माण हुआ है; और अनुपयोगी प्राचीनता के अंश को छोड़कर नूतनता के लिए उससे प्रेरणाये मिली है।

भापा, भाव, शैली और कला आदि की दृष्टि से प्रसाद युग हिन्दी नाटक-साहित्य का स्वर्ण युग हैं। काश्मीर की प्रशंसा करते हुए जहाँगीर ने कहा था—'यदि स्वर्ग कहीं है तो यही है और वह यहीं है'। कवि प्रसाद ने भी इस भूतल को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न किया है। विशैली विपमता और स्वार्थपरता तथा महत्वकांक्षा की दुर्वृत्ति को निकालकर उसमें समता, करुणा और सहानुभूति का दीपक जलाकर प्रकाशमय किया है।

: ६ :

प्रसादोत्तर नाटक-साहित्य

परिस्थितियाँ

प्रसाद युग का निर्माण अतीत भारत की उज्ज्वल विभूति और भावुकता के समन्वय मे हुआ था। उस समय की राजनीतिक क्रांतियों ने भी साहित्य की रचना मे अपना सहयोग प्रदान किया था। देश-प्रेम और स्वतंत्रता के आन्दोलन से भी लेखकों को अपने जातीय विकास की प्रेरणा मिली थी। लोगों को स्वदेश प्रेम का रंग चढ़ चुका था, किन्तु समय की गति ने लोक जागृति को शांत कर दिया। सन् १९३३ के गांधी-इरविन समझौते के फलस्वरूप "गोलमेज कांन्फ्रेंस" से भी भारत को कोई विशेष लाभ नही पहुँचा। १९३५ के भारतीय विधान में भारतीयों को कुछ शासनाधिकार देकर जन-आन्दोलन को और भी शीतल कर दिया गया। जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ना स्वाभाविक था और इसी प्रभाव से प्रांतीय भाषाओं के साहित्य की रचना हुई।

गत महायुद्ध के कारण पश्चिमीय साहित्य में भी नवीनता का रंग चढ चुका था। वहाँ के निबन्ध, गद्य, पद्य, उपन्यास कहानियाँ और नाटक सभी में परिवर्तन हो रहे थे।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों और रेडियो तथा छापेखाने के विकास से जनता और शिक्षित वर्ग मे एकता स्थापित हो चुकी थी। मनोविज्ञान ने मनुष्य के मस्तिष्क तथा उसकी विचारधारा और भावों को समझाने में भी सहायता पहुँचाई। 'फ्रायड' के नवीन सिद्धांतों ने शिक्षित लोगों में एक क्रांति मचा दी थी। बर्नार्ड्शॉ, जॉन गाल्सवर्दी आदि लेखकों ने अपनी रचनाओं से एक नये युग का आरम्भ किया। बुद्धिवाद तथा तर्कवाद ने भावुकता पर विजय पाई। इस दौड़ में मस्तिष्क ने हृदय को पीछे धकेल दिया।

जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली यह प्रतिदिन की समस्यायें विस्तृत हो रही थी। घर, समाज, जाति और देश सभी समस्याओं के ऊपर गहन विचार होने लगा था। व्यक्ति समस्या का प्रधान अंग बन गया था। मजदूर-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, महिला-आन्दोलन, अछूतोद्धार, आर्थिक-सुधार, समाज-सुधार, वैज्ञानिक-विकास और औद्योगिक उन्नति आदि कई समस्याओं ने हिन्दी साहित्य में नवीन युग को जन्म दिया। जिसमें ऐतिहासिक और समस्या-प्रधान नाटक अधिक लिखे गए।

ये समस्यायें साहित्य के प्रत्येक अंग मे व्याप्त हो गई और देश-प्रेम-सम्बन्धी रचनाएं गौण हो गई। इस नवीन युग के कवि, नाटककार और कहानी लेखक सभी बुद्धिवादी बन गये। कल्पना का स्थान तर्क ने ले लिया।

नाट्य साहित्य पर इब्सन का प्रभाव

यद्यपि हेनरिक इब्सन के नाटकीय सिद्धान्तो का व्यापक प्रभाव अंग्रेजी नाटको पर अधिक पड़ा है किन्तु उस प्रभाव से किसी भाषा का नाट्य साहित्य वंचित नही रह सका। सबसे प्रथम समस्या-प्रधान नाटक लिखने वाले इब्सन है। इससे नाट्य साहित्य मे अनेक परिवर्तन हुए है। नाटक के वस्तु-विन्यास मे से कोरी भावुकता को हटाकर उसे तर्क और समस्याप्रधान बना दिया है। जीवन के विषय मे उसके विचारों का सार यह है।—

१. प्रत्येक स्त्री-पुरुष को स्वतत्रतापूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करने का अधिकार है।

२. जीवन के दु.खी होने का कारण एक मात्र प्रेमी की असफलता है।

३. जीवन मे समझौते का कोई स्थान नही है। हाँ, प्रत्येक प्रकार की ईमानदारी और सच्चाई नितान्त आवश्यक है।

४. बहुसंख्यको पर अवलम्बित शासन एक प्रकार का अत्याचार है। अल्प संख्यकों की राय सही होती है।

इब्सन ने इन्ही सिद्धातो को अपने नाटको मे पात्रों के द्वारा व्यक्त किया है। इन विचारों का प्रभाव पश्चिमीय नाटकों पर क्राँतिकारी रूप से पड़ा। बर्नार्ड्शॉ इब्सन के प्रभाव से पूर्ण प्रभावित थे।

इन विचारो का प्रभाव नाट्य साहित्य पर भी पडा जो कि लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और भुवनेश्वर प्रसाद आदि के नाटको मे लक्षित होता है।

हिन्दी नाट्य विमर्श के आधार पर इब्सन के द्वारा निम्नलिखित पाँच परिवर्तन नाटको मे हुए है।

१. ऐतिहासिक कथावस्तु के स्थान पर सामाजिक कथा का विकास।

२. उच्च वर्गों के आदर्श पात्रो के स्थान पर निम्न वर्ग के मजदूर प्रभृति को नायको का पद प्राप्त हुआ।

३. व्यक्ति और समाज को पारस्परिक सघर्ष का स्थान मिला।

४. बाह्य सघर्ष के स्थान पर अन्त: सघर्ष(अन्तर्द्वंद्व) को प्रधानता मिली।

५. स्वगत भाषण का त्याग हुआ।

समस्या नाटक : शिल्प तथा विधा

समस्या नाटक का उदय पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हुआ है। पाश्चात्य साहित्य में यथार्थता का प्राचुर्य तथा कृत्रिमता दूसरे शब्दों में शास्त्रीयता का बहिष्कार एक स्वर से हुआ। परिणामस्वरूप जनसाहित्य का सृजन हुआ। इस धारा का प्रभाव भारत में भी प्रबल वेग से हुआ। सभी शास्त्रीय नियमों को शृंखला समझा जिनसे साहित्यकार अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को जकड़ा हुआ समझता था। वह तोड़ने के लिए आकुल था और इधर इस धारा ने उसमें नवीन स्फूर्ति का संचार किया। इस तरह से समस्या नाटक का जन्म हुआ। इन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य जनता को तत्कालीन समस्याओं से परिचित कराना था न कि उनका समाधान खोजना। इसी कारण प्रायः समस्या नाटकों में समस्या के समाधान पर कम विचार किया गया है। यहाँ इसके शिल्प तथा शैली पर विचार-विमर्श करते हैं।

समस्या नाटकों में शास्त्रीयता का तिरस्कार किया गया। दूसरे शब्दों में प्राचीन नाट्याचार्यों के सभी ग्रन्थ इनके लिए निरर्थक सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ—नांदी, प्ररोचना, प्रस्तावना, भरतवाक्य, सूत्रधार, नट और नटी सभी का इन नाटकों से वहिष्कार किया गया। नाटककार केवल समस्या को पाठकों के सम्मुख रखने के लिए आतुर रहता है। इस कार्य के लिए आरम्भ में एक परिस्थिति का निर्माण किया जाता है। तदुपरान्त उसकी व्याख्या और अन्ततोगत्वा वस्तुस्थिति में अन्तर्निहित किसी व्यक्तिगत या व्यक्ति विशेष अथवा सामाजिक सयस्या का प्रस्तुतिकरण। यह समस्या विभिन्न चरित्रों के माध्मय से अभिव्यक्त की जाती है।

जनान्तिक और अपवारित के स्थान पर नाटकों में स्वाभाविकता के निरूपणार्थ स्वगत भाषणों का प्रयोग किया जाता है। इससे चरित्रों की विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं। साथ ही कृत्रिमता और अलौकिकता से इनका विश्वास उठ गया।

समस्या नाटकों में संयोग से घटित होनेवाली घटनाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया। इसीलिए शॉ ने कहा है कि—

"As a matter of fact no accident can produce a moment of real drama."

भाषा एवं संवाद—इन्होंने रीतिकालीन आलंकारिक या प्रसादमयी दार्शनिक भाषा का प्रायः त्याग किया है। इन्हें तो यथार्थता में सौन्दर्य मिलता है। इसीलिए जन-भाषा का खुलकर प्रयोग किया है। इसीलिए अनेक स्थलों पर दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले अँग्रेजी के शब्दों का मुक्त प्रयोग किया गया है। साथ ही लम्बे-लम्बे सम्वादों को अपने नाटकों में कोई स्थान नहीं दिया है। उनके स्थान पर टूटे हुए वाक्य कहलाकर मनोवैज्ञानिकता का समावेश किया है। गीतों और नृत्यों को भी

इन्होंने अपने नाटकों में ठूंसने का यत्न नहीं किया। हाँ, पात्रों में तर्क का निरूपण हुआ। एक पाश्चात्य विद्वान ने इसकी विशेषता को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है— One of its qualities lies in ability to make People think by makig them laugh. अर्थात् इसमें चिन्तन की प्रधानता भी लक्षित होती है।

रंग-निर्देश—चरित्र की गम्भीरता तथा परिस्थिति के बोध के लिए इन नाटकों में नाटककार विस्तृत रंग-निर्देशों का प्रयोग करते है। प्रत्येक अंक के आरम्भ मे रंग निर्देश दृश्यात्मक अभिव्यंजना के सहारे विभिन्न चरित्रों पर प्रकाश डालता है। यह उपकरण सामाजिकों और पाठकों को नाटक की वास्तविकता से परिचित कराता है।

निष्कर्ष यही निकला कि समस्या नाटक में केवल समस्या की प्रधानता होती है। उसमें मुख्य नायक या नायिका का प्रश्न नही होता। वहाँ तो समस्या की सुन्दर अभिव्यक्ति वांछनीय है।

विशेषताएं

हिन्दी नाट्य परम्परा, संस्कृत नाटकों की जितनी ऋणी थी आज अंग्रेजी नाटकों की भी उतनी ही ऋणी है। ज्यों-ज्यों मानव के जीवन का विकास होने लगा त्यों त्यों उसकी समस्याओं का जन्म भी। उक्त समय के साहित्य में और विशेपतया नाटक साहित्य में जो समाज का दर्पण सर्वमान्य रहा है परिवर्तनों का आ जाना सहज सम्भाव्य ही है। जहाँ हिन्दी नाटक कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि आदर्श नाटककारों के चरण चिह्नों पर चल रहे थे वहाँ वे इब्सन बरनार्ड शॉ की नाट्य कला पर भी सरलता से रीझ गए। परिणामस्वरूप प्राचीन नाट्य कलेवर में नवीनता का आविर्भाव हुआ। वास्तव में समस्या नाटक युग की प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह प्रतिक्रिया भावुकता और रोमांस आदि के विरुद्ध थी। आज का नाटककार भावुकता और रोमांस के स्थान पर बौद्धिकता तथा मनोवैज्ञानिकता का समावेश करके दर्शकों को यथार्थता से परिचित कराना चाहता है। प्राचीन रूढ़ियों के प्रति आज उसे मोह नहीं। तीखे सत्य आदि के होते हुए भी इनका पिंड रोमांस से नहीं छूट सका। समस्या नाटकों की भी अपनी कुछ विशेपताएं हे। उनका विवेचन नीचे किया गया है।

१. ये किसी भी प्रकार की कृत्रिमता के पोपक नही हैं। अर्थात् Sugar Quated मधुवेष्ठित कुनेन की गोली में इन्हें विश्वास नही। क्योंकि इससे मरीज को कुनेन की कड़वाहट जो उसका विशिष्ट गुण है, से परिचय प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में समाज के नगे या यथावत् चित्र के प्रदर्शक हे।

२. इन नाटकों का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि इनका क्षेत्र सीमित है। अधिकांशतः नाटकों की मूल समस्या सेक्स-यौन-सम्बन्धी है। अनेक अन्य समस्याएँ भी हैं, परन्तु उनका मूल स्रोत इसी से है।

३. इन नाटकों की शैली मनोविश्लेषणात्मक है। इनके पात्र अपने या दूसरे के भावों की तह का प्रकटीकरण करते हैं। उनके वक्तव्यों में प्रायः सस्वर विचार (Thinking Aloud) है।

४. इनकी टैक्नीक पाश्चात्य पद्धति से प्रभावित है। परिणामस्वरूप भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन किया है। अतः कथा के विभाजन में नियंत्रण का अभाव है। साथ ही इनका अन्त प्रायः दुःखांत होता है क्योंकि समस्या का उठाना ही इनका उद्दिष्ट है; समाधान करना नही।

५. इन नाटककारों को अतीत से लेशमात्र भी स्नेह नही केवल आधुनिक अर्थात् वर्तमान के दृष्टा है। इनकी कथावस्तु वास्तविकता के उपादान से नित्य निर्मित होती है।

६. कल्पना के कलेवर को इनकी वास्तविकता ने जीर्ण-शीर्ण कर दिया।

७. इनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को परम्परागत रूढ़ियों के द्वारा आघात से बचाया जाता है। अर्थात् स्वतन्त्र चिन्तन का विशेष महत्त्व है। ये ही कुछ इनकी विशेषताएँ हैं। कुछ आँग्ल लेखकों के विचार भी दृष्टव्य हैं—

समस्या नाटक की प्रभुता इसी में है कि वह समाज की महत्त्वपूर्ण समस्या को प्रदर्शित करे। पाश्चात्य विद्वान वावले के विचार में समस्या नाटक सामाजिक कुरीतियों, परम्पराओं एवं असन्तुष्ट जीवन की कठोर व्याख्या करने के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सका।

Problem play in England became a powerful and efficient medium of Social criticism and Expressed a strong dissatisfaction with the existing traditions and preexgudices.

टी० सी० विलियम ने इसकी विशेषता को बड़े सुन्दर रूप से मुखरित करने का यत्न किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नाटक किसी-न-किसी समस्या को प्रस्तुत करता है परन्तु प्रत्येक नाटक समस्या के होने के कारण समस्या नाटक नहीं है।

"Every play presents a problem but not all forms of dramas are desribed as problem plays."

निष्कर्ष यही निकला कि समस्या नाटक केवल समस्या के अस्तित्व से ही नही वरन् अपनी नवीन शैली के संयोग से समस्या नाटक कहलाता है।

'सिन्दूर की होली' का प्रतिपाद्य

समस्या नाटक में नाटककार समाज की समस्याओं को बड़े सुन्दर रूप से चित्रित करने का प्रयत्न करता है। इस कोटि के नाटक में नाटककार भावुकता एवं कल्पना की उड़ान से दूर हो जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को उभाड़ने का श्लाघनीय

प्रयत्न करता है। वह नाट्य शास्त्रीय नियमों, उपबन्धों एवं परम्पराओं को सर्वथा त्याज्य समझता है परन्तु अपने उद्देश्य में सहायक तन्तुओं का प्रयोग भी करता है। परन्तु वह इनके बन्धन में न रहकर स्वच्छन्द विचरण करता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी अपने नाटक सिंदूर की होली में समाज की समस्याओं को चित्रित करने का कार्य किया है। प्रश्न उठता है कि वे कौनसी समस्याएँ है जो इसमें मुखरित हो सकीं और उनमें से किसको प्रधानता मिली। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका प्रतिपादन विषय क्या रहा है। यह नीचे विस्तार से वर्णित है :—

१. **आर्थिक समस्या**—आज के समाज में जिधर देखो अर्थ के लिए शोर हो रहा है। मानव की तृष्णा कभी भी शान्त नहीं होती। आज का मानव धन को लेकर संसार की समस्त वस्तुओं को क्रय करने का प्रयत्न कर रहा है। अर्थ की प्रधानता है। इसी अर्थ के लिए नीच-से-नीच कर्म करने को मानव उद्यत हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिश्र जी ने अपने नाटक में प्रस्तुत किया है। मुरारी-लाल डिप्टी कमिश्नर जो नियमों का संरक्षक है वह केवल धन के लिए उनका उल्लंघन करता है। भगवन्तसिंह से एक जीव के लिए चालीस हजार हड़प जाता है। पहले भी रजनीकान्त के पिता की मृत्यु कर चुका है। यह आज के समाज की बड़ी विषम समस्या है जो इसमें मुखरित हो उठी है।

२. **सामाजिक समस्या**—समाज में नारी के महत्त्व की कितनी उपेक्षा हो रही है, उसे किस-किस तरह अपमानित एवं गर्हित कर्मों में फाँसा जाता है इन सबका विस्तार से विवेचन हुआ है।

पारिवारिक कलह आज के समाज में है। इस नाटक में चन्द्रकला अपने पिता का विरोध करती है। आज का प्रत्येक मानव अपनी जन्मजात स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर सकता है, चाहे संघर्ष उसे अपने आत्मीयों से ही क्यों न करना पड़े। इस तरह समाज के सूत्र विच्छिन्न हो रहे है और वह पतनोन्मुखी है।

३. **वैधानिक समस्या**—आज के संसार में नियम एवं विधानों का खंडन बड़े चाव एवं गर्व के साथ किया जाता है। आज के समाज का उद्देश्य केवल धन है। उसका दुरुपयोग होता है उत्कोच के रूप में। इसका दृश्य इस नाटक में है। आज के कानून (Laws) धन की तराजू में तुलते है, वे क्रय किये जा सकते है। वे केवल विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए है न कि व्यावहारिक जीवन के लिए।

४. **प्रणय की समस्या**—आज का समाज वैज्ञानिक संसार की खोज में है। वह नवीनता चाहता है। इसकी तीन सोपान है—

१. प्रणय से पूर्व। २. प्रणय के समय, और ३. प्रणय के पश्चात्।

इस नाटक में इन तीनों का संयोजन चन्द्रकला एवं मनोरमा के माध्यम से हुआ है।

५. चिकित्सा की समस्या—आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का उसमें उपहास किया है। आज के डाक्टर वैद्य आदि केवल दवाओं के माध्यम से रोग को दूर करना चाहते हैं। वे रोगी की चिकित्सा मनोवैज्ञानिक तरीके से या उसकी आन्तरिक दशा को समझ कर नही कर सकते।

उपर्युक्त समस्याएँ ही इस नाटक में प्रमुख है। किन्तु इनमें भी उत्कोच एवं प्रणय की समस्याएँ सर्व प्रमुख है।

प्रारम्भ से अन्त तक इन दोनों का गुम्फन ही इस नाटक में है। प्रणय से पूर्व की समस्या चन्द्रकला में द्रष्टव्य है। प्रणय के पश्चात् को उसमें सिन्दूर की होली खेलने के पश्चात् मनोरमा के वार्तालाप से और उभाड़ी गई है।

अतः मिश्रजी का प्रतिपाद्य विषय इस नाटक में प्रणय की समस्या, वैधानिक-समस्या, चिकित्सा प्रणाली, सामाजिक एवं आर्थिक रहे हैं। इनका मिश्रजी ने बड़े सुचारु रूप से संयोजन किया है। वास्तव में वे मार्मिक, सजीव एवं सुन्दर बन पड़ी है। सम्भवतः इस क्षेत्र में उनके समकक्ष कोई और न ठहर सके।

प्रसादोत्तर रचनाएँ

प्रसादोत्तर युग में मौलिक नाटक रचनाएँ अधिक रूप में मिलती है। इनकी अनेक धाराएँ है। जिनमें ऐतिहासिक और समस्या प्रधान इन दो धाराओं की प्रधानता ही है।

पौराणिक धारा

इसकी तीन उपधाराएँ है—(क) राम, (ख) कृष्ण और (ग) पौराणिक-आख्यात्मक।

(क) राम धारा के अन्तर्गत सेठ गोविन्ददास का "कर्त्तव्य" और चतुरसेन-शास्त्री के "सीताराम" एवं 'श्रीराम' केवल ये तीन नाटक प्रसिद्ध हैं।

(ख) इसी प्रकार कृष्ण धारा के नाटकों में भी सेठ गोविन्ददास का कर्त्तव्य (उत्तरार्द्ध), उदयशंकर भट्ट का "राधा" और किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' नाटक प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों धाराओं के नाटकों में कर्त्तव्य नाटक उत्तम है। इसके दो भाग है पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में रामचरित को मनुष्य के दृष्टिकोण से अंकित किया गया है, भक्त की दृष्टि से नहीं। इसमें समस्त कथानक को बुद्धिवाद का रूप दिया गया है। पश्चिम के दुखान्त का प्रभाव इसमें स्पष्ट है।

उत्तरार्द्ध कर्तव्य में कृष्ण चरित है। इसमें भी कला तथा नाटकीय दृष्टिकोण वही हैं जो पूर्वार्द्ध में हैं। इन दोनों की दुःखान्त भावना प्रसाद की सुखान्त भावना से मेल खाती है।

(ग) पौराणिक धारा के अन्य नाटकों मे उदयशंकर भट्ट के अम्बा, सगर-विजय, मत्स्यगन्धा और विश्वामित्र, चतुरसेन शास्त्री का मेघनाद तथा पांडेय बेचन-शर्मा 'उग्र' का गंगा का बेटा और डा० लक्ष्मणस्वरूप का नल-दमयन्ती प्रसिद्ध है।

इस धारा के प्रधान लेखक भट्ट जी है। प्रसाद के समान आपके भी नाटकों का विषय प्राचीन हिन्दू काल है। भट्ट जी ऐतिहासिक नाटकों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका सिन्धु पतन प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है।

सगर विजय एक पौराणिक कथानक को लेकर लिखा गया है। इसमें सगर के चरित का चित्रण हुआ है। अम्बा भट्ट जी का सफल नाटक है। मत्स्यगन्धा एक गीति-नाट्य है। इनकी नाट्यकला बड़ी सुन्दर और मंजी हुई है।

ऐतिहासिक धारा

इस धारा के प्रसिद्ध नाटक ये हैं—उदयशंकर भट्ट का दाहर या सिन्ध पतन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का अशोक, हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षा बन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध और स्वप्न-भंग आदि।

इस प्रकार सेठ गोविन्ददास का 'कुलीनता' और शशिगुप्त; अश्क का 'जय-पराजय', भटनागर का 'कुणाल' आदि प्रसिद्ध है।

इस धारा के प्रमुख नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी है। इनके चार नाटकों की सामग्री मुगलकालीन, भारत के इतिहास से ली गई है। रक्षाबंधन में मुगल सम्राट् हुमायूँ और स्वर्गीय महाराणा साँगा की पत्नी कर्मवती के भाई-बहन सम्बन्ध की रक्षा का वर्णन है। इसमे हिन्दू-मुस्लिम एकता चित्र अंकित किया गया है। इस पर गांधीवाद का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। स्वप्न-भंग नाटक मे दारा और औरंगजेब के संघर्षमय जीवन की करुण कहानी है। दारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्षपाती था। इस प्रकार इन नाटकों में लेखक के ऐक्यभाव का चित्रण मिलता है। प्रेमी जी के नाटक, साहित्यक-रंगमंचीय दोनो दृष्टि से उत्तम हैं। इनके नाटकों का वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण आदि सभी कलात्मक रूप से श्रेष्ठ है। भारतीय आदर्श-वाद तथा आत्म विस्तार तथा भारत की सज्जनता आदि का सुन्दर चित्रण हुआ है।

इसके अतिरिक्त अन्य नाटककारों को भी अपनी रचनाओं में सफलता मिली है। यद्यपि प्रसाद द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक नाटकों की परम्पराएं क्रम-बद्ध नही मिलती है, फिर भी इन ऐतिहासिक नाटकों में अपनी संस्कृति, वीरता, देशप्रेम, स्त्री-मर्यादा आदि के भाव मिलते है।

प्रेमप्रधान प्रतीक धारा

इस धारा के अन्तर्गत केवल दो नाटक मुख्य हैं। कमलाकान्त वर्मा का "प्रवासी" और सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्स्ना'। पन्त जी का ज्योत्स्ना एक अपूर्व नाटक है। अलंकार के रूप में संध्या तथा उसके क्रमशः विकास ज्योत्स्ना, उषा और प्रकाश का सजीव वर्णन है। प्रसाद की 'कामना' की तरह इसमें मानवी वासनाओं का मानवीकरण नहीं है। यह मनुष्य जीवन के उद्देश्य को लेकर लिखा गया कल्पना प्रधान नाटक है।

इस प्रतीकवादी धारा में पन्त जी की ज्योत्स्ना एक नवीनता की सूचक है। ज्योत्स्ना मे विषमता तथा समता की स्थापना कलापूर्ण ढङ्ग से हुई है।

राष्ट्रीय प्रेम और समस्या धाराएँ

इस युग में दोनों ही धाराएँ एक हो गई है। एकता का यह रूप प्रसाद काल मे ही आरम्भ हो गया था परन्तु इस समय इन दोनों में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है।

इस गङ्गा-जमनी में समाज और राजनीति इन दोनों का एकीकरण है। देश की राजनीतिक जागृति मे केवल देश-प्रेम की भावना ही प्रधान रूप से न रही प्रत्युत उसमे देश की आर्थिक स्थिति, समाज सुधार, वैज्ञानिक उन्नति, व्यक्ति का प्रश्न, स्त्री की स्वतन्त्रता और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी सम्मिलित हो गया। इसका प्रभाव नाट्य साहित्य पर भी पड़ा। इस समस्या प्रधान नाटक धारा मे निम्नलिखित रचनाएँ मुख्य है—

लक्ष्मीनारायण मिश्र के राजयोग, सिन्दूर की होली और आधी रात तथा राक्षस का मंदिर आदि।
बेचन शर्मा 'उग्र' " डिक्टेटर और चुम्बन आदि
गोविन्दवल्लभ पन्त " अंगूर की बेटी
भगवतीप्रसाद वाजपेयी " छलना
सेठ गोविन्ददास " विकास और सेवापथ
उपेन्द्रनाथ अश्क " स्वर्ग की झलक
हरिकृष्ण प्रेमी " छाया और बन्धन

इन समस्या-प्रधान नाटकीय रचनाओं मे लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक प्रमुख स्थान रखते है। इनके नाटको में चिरंतन नारी-समस्या के अनेक प्रश्न है। स्त्रियों के अपने व्यक्तित्व का विकास और वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे उनकी प्रवृत्ति, स्त्री की सबसे अमूल्य वस्तु क्या है, उसका चरित्र, उसकी शारीरिक पवित्रता अथवा मानसिक विकास; स्त्री के प्रेम का स्वरूप क्या है; सेवा अथवा आत्मसमर्पण; क्या

स्त्री सब अवस्थाओं में अपने पिता या पति की आज्ञा के आधीन है ? आदि समस्याओं को लेकर ही मिश्रजी के नाटक की नारियाँ आशादेवी, चम्पा और चन्द्रकला तथा मनोरमा रंगमंच पर प्रवेश करती है ।

इनके नाटकों में बड़े तर्क और वितर्क के साथ व्यक्त की गई विजय में समाज की पराजय अंकित है । प्रसाद के नाटकीय पात्रों का आत्म-संतोष कर्तव्य के पालन में है । उनका आधार धार्मिक संस्कारों पर स्थिर है, परन्तु मिश्र जी के पात्र धार्मिक संस्कारों में रूढ़िवादिता का दर्शन करते हुए बुद्धिवाद का अवलम्बन लेकर विपरीत प्रतिक्रिया द्वारा आत्म-संतोष के भागी बनते है ।

मिश्र जी के रंग संकेतों ने उनके पात्रों की गीति और कार्य-व्यापार को सजीव रूप दे दिया है ।

गोविन्ददास के नाटक राजनीतिक विचारों पर अवलम्बित है । सेठ जी गांधीवादी है । उनके "सेवापथ" में यह पूर्ण लक्षित होता है । अपने जीवन में अनुभूति राजनीतिक संग्राम और असहयोग आन्दोलन आदि का प्रभाव उनमें स्पष्ट प्रतीत होता है । इनके नाटकों के सम्वादों में अधिक शक्ति है और भाषा में ओज है ।

अश्क जी के नाटक उस मनोवृत्ति की झाँकी है जो नव शिक्षित नारी में पाई जाती हैं ।

प्रेमी जी ने व्यक्ति और समाज की समस्याओं को लेकर जो भी सामाजिक नाटक लिखे है उनमें उन्हें सफलता नहीं मिली है ।

पन्तजी का नाटक "अंगूर की बेटी" चलचित्र (सिनेमा) के लिए लिखा गया नाटक है ।

समस्या प्रधान को लेकर कई नाटक लिखे गये, किन्तु उनमें प्रधान दो ही समस्याएँ है—व्यक्ति की समस्या और राजनीतिक आदर्शवाद की समस्या । इसके परिणामस्वरूप हिन्दी के एकांकी नाटकों का जन्म हुआ ।

: ७ :

एकांकी नाटक-साहित्य

उत्पत्ति

एकांकी नाटकों के विषय में सर्व प्रथम यह कहा जा सकता है ... युग के नाट्य साहित्य की एक सुन्दर देन है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में आलोचकों के विचारों में मतभेद है। कुछ लोग इसका उद्गम संस्कृत नाटकों से मानते हैं और कुछ लोग अँग्रेजी एकांकी नाटकों से हिन्दी एकांकी नाटकों का उत्पन्न होना स्वीकार करते हैं। किन्तु यदि विवेचना पूर्वक देखें तो यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हिन्दी में एकांकी नाटकों की उत्पत्ति संस्कृत रूपकों (नाटक) की परम्परा के अनुकरण के द्वारा भारतेन्दु से हुई है और अपने विकास की वर्तमान अवस्था में इस पर अँग्रेजी का प्रभाव अधिक पड़ा है।

अब यहाँ संस्कृत और अँग्रेजी के एकांकी के विषय में कुछ विचार लिखे जाते हैं।

संस्कृत के एकांकी

संस्कृत के दृश्य काव्य के अनुसार रूपक के दस और उपरूपकों के अठारह भेद हैं। इनमें से एक अंक वाले ये हैं—भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी तथा नाट्य रासक। इनमें से प्रत्येक के लक्षण पृथक्-पृथक् प्रकार के हैं। भाण में एक अंक होता है और पात्र भी एक होता है जो प्रश्न और उत्तर के रूप में स्वयं आकाश की ओर मुख करके बोलता है जिसे आकाश भाषित कहते हैं। इसका उदाहरण हिन्दी में भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषधम्' है।

'व्यायोग' में कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है। पात्र पुरुष होते हैं। स्त्री पात्र का अभाव होता है। युद्ध वर्णन इसकी विशेषता है। भारतेन्दु का 'धनञ्जय विजय' इसका उदाहरण है। हरिऔध जी का 'प्रद्युम्न विजय' भी व्यायोग है। इनके अतिरिक्त अन्य अंक गोष्ठी आदि के उदाहरण हिन्दी में नहीं मिलते हैं। केवल नाट्य रासक से मिलता जुलता रूप कमलाकान्त वर्मा के 'सूर्योदय' में मिलता है।

हिन्दी में प्रहसन भी एकांकी के रूप में लिखे गये हैं। 'अन्धेर नगरी,' 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि इनके उदाहरण है।

संस्कृत में शास्त्रीय दृष्टि से एकांकी का वर्गीकरण हुआ है। प्रत्येक में वस्तु, 'पात्र', रस तथा दृश्य आदि के अनेक बन्धन हैं जिसके कारण संस्कृत में भी एकांकी बहुत कम मिलते है। अतएव हिन्दी में भी केवल एकांकी की श्रेणी में प्रहसन को ही भारतेन्दु

और उनके समकालीन नाटककारों ने अपनाया।

अँग्रेजी के एकांकी

अंग्रेजी एकांकी नाटकों का क्षेत्र, विषय और नाट्य विधान दोनों दृष्टि से अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसके लिए निम्नलिखित चार आवश्यक तत्त्व हैं—

१. विषय की एकता—नाटकीय कथावस्तु में विषमता नहीं होनी चाहिए। सारी घटनायें मूलकथा से सुसम्बद्ध हों।

२. प्रभाव की एकता—सब घटनाओं का प्रभाव एक हो। अलग-अलग घटनाओं द्वारा पृथक्-पृथक् प्रभाव उत्पन्न होने से पाठक या दर्शक के मन को आनन्द नहीं मिलता।

३. वातावरण की एकता—नाटकीय कथनाक के परिणाम उत्पन्न करने वाले तत्त्वों में एक वातावरण का होना आवश्यक है।

४. एकांकी में प्रधानता एक पात्र या वर्ग विशेष की होती है। अतः वही समस्त उपयुक्त नाटकीय अंगों का केन्द्र होता है और उसी का विशेष रूप से चरित्र-चित्रण होता है। अन्य सभी पात्रों का समान रूप से चरित्र-चित्रण होना एकांकी में असम्भव है।

विधा और शिल्प

नाट्य विधान की दृष्टि से एकांकी के मुख्य अंग पाँच हैं।

१. उद्घाटन—पहले दृश्य में पर्दा उठते ही दर्शक मंडली का मन लेखक की दुनिया में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। इस आकर्षण के लिए लेखक तीन साधन से काम लेता है—

(क) सुन्दर रंग-संकेतों द्वारा अपने वतावरण को आकर्षक बनाता है।

(ख) अथवा किसी मूक अभिनय द्वारा या पात्रों की चेष्टाओं के द्वारा दर्शकों को आकर्षित करता है।

(ग) या मनोरंजक सम्वादों के द्वारा अपने पात्रों के वातावरण को उपयुक्त बनाता है।

२. स्थिरता (टिकाव)—इनमें दर्शक लेखक के उद्देश्य तथा भावों का ज्ञान प्राप्त करके परिणाम के लिए उत्सुक रहता है।

३. विकास—इस अवस्था में लेखक अपने कार्य और कारण की एकता की अभिव्यञ्जना के लिए ध्यान रखता है। यदि इन दोनों में सम्बन्ध नहीं होगा तो दर्शक कभी एकांकी को पसन्द नहीं करेगा।

४. चरमोत्कर्ष—इस अवस्था में संघर्ष या द्वन्द्व की समाप्ति हो जाती है। दर्शक लेखक के उद्देश्य को समझकर तन्मय हो जाता है। इसी के लिए एकांकी में

सभी कार्य व्यापार होते हैं।

५. अन्त—इस अवस्था में दर्शकों की बढ़ी हुई उत्सुकता को शान्त करने का प्रयत्न करता है। नाटकीय कथा का अन्त भले ही दर्शक-मण्डली के तर्क के अनुसार न हो, किन्तु घटनाओं के उद्घाटन और विकास के अनुकूल उसका अन्त अवश्य होना चाहिए।

इस प्रकार हिन्दी एकांकी नाटकों का उदय संस्कृत के आधार पर हुआ और उनका विकास तथा महत्त्व पश्चिमीय नाट्य साहित्य के ढंग से मानना चाहिए। हिन्दी एकांकी पश्चिमीय साहित्य की देन है यह मत नितान्त भ्रममूलक है।

वर्ग विभाजन

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हिन्दी एकांकी नाटकों को चार भागों में बाँटा गया है—१ भारतेन्दु युग २. प्रसाद युग ३. भुवनेश्वरप्रसाद रचनाकालीन युग तथा ४. रामकुमार वर्मा प्रभृति रचनाकालीन युग।

१. भारतेन्दु युग—इस समय के प्रधान लेखक भारतेन्दु, राधाचरण-गोस्वामी, किशोरीलाल, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और काशीनाथ आदि हैं। इनके नाटकों के विषय इतिहास और समाज सुधार सम्बन्धी हैं। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा-विलाप, व्यभिचार-प्रवृत्ति आदि तत्कालीन सामाजिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें सुधारवाद तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति मिलती है। कला की दृष्टि से इस युग के नाटक कोई महत्त्व नहीं रखते।

इस युग में व्यंग्य-प्रधान प्रहसन अवश्य लिखे गये हैं। किन्तु उनमें भी सुन्दर व्यंग्यात्मक हास्य नहीं मिलता है बद्रीनाथ भट्ट का 'चुङ्गी की उम्मीदवारी' एक सुन्दर प्रहसन है। इस समय के नाटकों में दृश्य के स्थान पर 'गर्भांक' का प्रयोग हुआ है जो नाटक के लिए उचित हो सकता है। इनमें 'संकलनत्रय' का भी प्रभाव मिलता है।

२. प्रसाद युग—एकांकी का दूसरा युग प्रसादजी के 'एक घूंट' से आरम्भ होता है। फ्रांसीसी मोलियर के रूपान्तरित कुछ प्रहसनों से एकांकी के इस रूप को उत्तेजना अवश्य मिली, किन्तु इसमें शिष्ट हास्य उचित रूप में नहीं मिलता।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्रसादजी का एकांकी अपने वर्ग का एक ही उदाहरण होकर रह गया। देश की आर्थिक अवस्था और तत्कालीन संघर्षमय वातावरण तथा रंगमंच के अभाव के कारण प्रसाद का एकांकी नाटक अन्य लेखकों को प्रेरित न कर सका।

३. भुवनेश्वरप्रसाद रचनाकालीन युग—एकांकी नाटकों का तीसरा युग भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवां' से आरम्भ हुआ। इस संग्रह में विवाह जैसी सामाजिक और साम्यवाद जैसी राजनीतिक समस्यायें हैं। पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव के

कारण एकांकी के रंग रूप में भी परिवर्तन हुआ है। समस्या नाटकों की तरह बुद्धिवाद ने एकांकी को भी प्रभावित किया है। उनके "शैतान" में कृत्रिम वैवाहिक सम्बन्ध की पोल खोली गई है। पश्चिम और पूर्व का संघर्ष वर्तमान एकांकी का प्रयोगशाली युग है। यह संघर्ष रामकुमार वर्मा और सेठ गोविंददास के पूर्व नाटकों में स्पष्ट लक्षित होता है।

४. रामकुमार वर्मा प्रभृत्ति रचना कालीन युग—सन् १९४१ से एकांकी का चौथा युग आरम्भ हुआ। इसमें नाट्य विधान के एकांकी रूप का नया सुगठित रूप जनता के सामने उपस्थित कर रहे हैं। रामकुमार वर्मा का "चारुमित्रा" और गोविंददास जी के सामयिक एकांकी तथा उदयशंकर भट्ट का यथार्थवादी संग्रह "स्त्री का हृदय" एवं उपेन्द्रनाथ अश्क की रचनायें सफल हैं। इस युग के प्रमुख एकांकी लेखक भुवनेश्वर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविंददास और उपेन्द्रनाथ अश्क आदि हैं।

एकांकी का विकास

व्यस्त जीवन और संक्षिप्ता से प्रेम के कारण ही इस युग में एकांकी की माँग बढ गई है। एकांकी का नाटक से वही सम्बन्ध है जो कहानी का उपन्यास से है। इसीलिए हिन्दी के नाटक-साहित्य में एकांकी ने अपना अपूर्व एवं स्थायी महत्व बना लिया है। आज एकांकी न केवल पढ़ने के लिए लिखे जाते है वरन् वे रेडियो से प्रसारित होने के लिये भी लिखे जाते है। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् हमारा चिर-सुप्त रंगमंच अंगड़ाई लेकर ऐसा जागा कि स्कूलों और कालजों की परिधि में सीमित न रह कर देहात के विस्तृत प्रांगरण में भी विचरण करने लगा।

आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व एकांकी को हिन्दी में कोई जानता भी न था। पर इसका सर्वथा अभाव भी न था। बहुत पहले हिन्दी में प्रहसन लिखने की एक परम्परा थी। वे उनमें ये कुछ एकांकी की पुरातन कला पर पूरे भी उतारे जा सकते है। किन्तु वे न तो खेले जाते थे और न तो उनमें आधुनिक एकांकी की कला के तत्व उस रूप में ही विद्यमान थे। भारत के स्वर्ण युग में जहाँ कला के अन्य अंगों का विकास हुआ वहाँ एकांकी भी अपनी विभिन्नता के साथ उपस्थित था। महाकवि भास का 'उरू भग' और नीलकण्ठ का 'कल्याण सौगंधिक' प्रसिद्ध एकांकी है। इनके अतिरिक्त 'गोष्ठी', 'नाट्यरासक', 'उल्लाप्य', 'काव्य' तथा 'अंक' आदि एकांकी के ही भिन्न रूप हैं। संस्कृत से हिन्दी तक एकांकी को आते-आते बहुत समय लगा। एकांकी नाम की कोई चीज़ यदि सही रूप में दिखाई दी तो वह भारतेन्दु युग में। उनमें वैसे अनेक दोष हैं, जैसे अपरिपक्व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा

यथार्थकता के पुट से हीन और आधुनिक एकांकी कला से शून्य। उनमें तत्कालीन समस्याएँ उपस्थित की जाती थी, जैसे—बाल विवाह, विधवा विवाह, वृद्ध विवाह, विधवा विलाप, अन्ध भक्ति भाव आदि। इन सामाजिक छोटे-छोटे विषयों को कहानी में न कह कर प्रहसन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। इन एकांकियों का मुख्य तत्व सम्वाद था और उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव-सा था। इनका सबसे बड़ा दोष गति हीनता था। इसलिए वे सच्चे रूप में प्रहसन भी न थे। भारतेन्दु, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास, प्रेमघन आदि प्रमुख उस युग के एकांकीकार प्रसिद्ध रहे है। इस युग के कुछ एकांकी 'तनमन धन गोसाई जी के अर्पण, चौपट-चपेट, जैसा काम वैसा परिणाम' अधिक प्रसिद्ध रहे हैं।

इसके बाद 'प्रसाद' जी के 'एक घूंट' तथा उसके कुछ काल पश्चात् अन्य लिखे गये एकांकियों का युग आता है। डॉ० वर्मा, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर आदि एकांकीकार के रूप मे प्रसिद्ध रहे है। इन सब पर पश्चिम का प्रभाव सीधे रूप में न पड़कर बंगला के माध्यम से पड़ा। ऐसा इसलिए हुआ कि सबसे पहले बँगला में ही पाश्चात्य साहित्य का अनुवाद कार्य आरम्भ हुआ और पढ़ा गया। सन् १९२८ तक श्री द्विजेन्द्रलाल राय और रवि बाबू के नाटक हिन्दी मे आ गए थे। उनका हिन्दी पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। लगभग १९२८ तक प्रसाद का 'एक घूंट' भी प्रकाशित हो गया था। यह संवाद प्रधान नाटक गतिहीन होने पर भी रवि के सम्भाषणात्मक प्रभाव को अपनाए है। रवि बाबू पर 'मैतरलिंक' का प्रभाव था। संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के नाते तथा भारतीय संस्कृति के संरक्षक होने से प्रसाद ने संस्कृत का भी अंग्रेजी के अतिरिक्त प्रभाव आत्मसात् किया है। श्री रामनाथ 'सुमन' 'एक घूंट' को हिन्दी का पहला एकाकी स्वीकार करते है, जबकि उसमें आधुनिकता पूर्णरूपेण नही है। वास्तव में उसकी कला संस्कृत एकांकियों की सी और सम्भाषण रविबाबू के से है। आधुनिक नाटक का सा आरम्भ, विकास और उत्कर्ष तथा यथार्थता अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रायः नगण्य है। जो परिहास है वह भी भोंडा है। उस समय की रंगशाला का हास्य मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से अवगत न था; 'जैसे एक व्यक्ति रुके रुके, बोलने लगे, गाने लगे, और फिर हँसने लगे चले बिल्कुल नही ऐसी उसकी गति थी महत्व की दृष्टि से ये प्राचीन और अर्वाचीन नाटक के बीच की कड़ी मात्र है।

१९३५ मे भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह पर पश्चिम का प्रभाव है और उसी विचारधारा की समाविष्टि हो सकी। नई समस्याओं

को उसमें स्थान मिला। इधर ३५ और ४० के बीच एकांकी कला को विशेष प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप उसकी गति तेज हो गई। ३८ में हंस के सम्पादक श्रीपतराय (प्रेमचन्द के पुत्र) ने 'हंस' का एक एकाकी नाटक विशेषांक निकाला। इस अंक मे मौलिक एवं अनूदित सभी प्रकार के एकाकी थे। एकाकी को आकाशवाणी ने भी समुचित प्रोत्साहन देकर इसका प्रसार किया। रेडियो एकांकी केवल ध्वनि पर अवलम्बित होते हं; इसीलिए वे अन्धो के नाटक कहे गये।

१६४५ के बाद हिन्दी एकाकी का नवीन युग आरम्भ हुआ। इसकी कला मे निखार आया और विषयो मे मनोरमता। आजकल मनोवैज्ञानिक ध्वनि नाटक, छाया नाटक, भाव नाटक, प्रतीकात्मक नाटक, मोनोड्रामा, आदि लिखे जा रहे हे। एकांकी-प्रगति मे 'इण्डियन पीपल्ज थियेटर तथा अन्य नाटक-कम्पनियों का भी विशेष हाथ हे। आज एकांकी गाँव व कस्बों की नाटक मंडलियो तक पहुँच गया हे। उसे सरकारी गैर सरकारी सभी समितियाँ अपनाकर अपने मनोनुकूल सिद्धान्तो के प्रचार का साधन बनाए हे।

आज का एकाकी पश्चिम का भारतीयकरण है। इंगलैंड में भी ७०-८० वर्ष पूर्व यह लुप्त था। वहाँ दर्शकों की सुविधा के लिए मुख्य नाटक से पूर्व 'पट उन्नायक' का आविष्कार किया गया। पर्दा उठाने से पूर्व एक छोटी सी घटना दिखाई जाती थी। इसमें नाटकीय द्वन्द्व एव अन्तिम बिन्दु का अभाव था। सन् १६०३ की घटना विशेष महत्वपूर्ण हे जहाँ से इसे मान्यता एव आकर्षण मिला। लन्दन के वैस्टेण्ड (Westend) थियेटर मे जकीब (W. Jacob) की एक कहानी 'बन्दर का पंजा' अभिनीत हुई। दर्शको को यह इतना पसंद आया कि वे मुख्य नाटक को बिना देखे उठ आए। एक एकाकीकार की दृष्टि मे इससे अच्छी कोई बात न हो सकती थी क्योंकि यदि एक ओर यह घटना 'पट उन्नायक' की मृत्यु का कारण बनी तो दूसरी ओर इससे उस संक्षिप्त नाटक का जन्म हुआ जो कला का एक अभिनव, स्पष्ट और पृथक् अंग बन सका हे। उद्घाटन, विकास, चरमोत्कर्ष और अन्त एकाकी के चार तत्व आज सर्वमान्य है। आज के श्रेष्ठ एकाकीकार के रूप मे श्री गोविन्द-वल्लभ पन्त, सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशकर भट्ट, डॉ० रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, सेठ गोविन्ददास प्रमुख हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क, गणेशप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, लक्ष्मीनरायण मिश्र, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, लक्ष्मीनारायण लाल, विष्णु प्रभाकर, सत्येन्द्र शरत, देवराज दिनेश एवं चिरजीत भी इस क्षेत्र मे अपना सहयोग दे रहे हैं। सिनेमा मे अद्भुत कौशल होने पर भी एकांकी का महत्व आज भी विशेष है।

लोकप्रियता

आज एकांकी, नाटक की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। जिस प्रकार उपन्यासों का स्थान कहानियों ने ले लिया है, वैसे ही नाटकों का स्थान एकांकी ने प्राप्त कर लिया है। इसके कई कारण है जिनमें प्रमुख कारण निम्नलिखित है—

इस प्रजातन्त्र और मौलिक युग में जीवन एक मशीन के समान सतत चलायमान है। इस अर्थ परायण युग में लोगों के पास इतना समय नहीं कि घण्टों बैठकर और नाटक देखकर मनोरंजन प्राप्त करें। आज की जनता चाहती है कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन-लाभ हो। बात भी यह सत्य है क्योंकि दिन के घोर परिश्रम से थका हुआ आदमी अधिक समय तक बैठकर मनोरंजन नहीं प्राप्त कर सकता।

जनता की भावना की पूर्ति एकांकी नाटक बड़ी सरलता और कलात्मकता से करते हैं। मस्तिष्क की भूख और हृदय की प्यास दोनों ही एकांकी से शान्त होती हैं। अतः एकांकी की सर्वप्रियता बढ़ रही है। एकांकी नाटकों को रेडियो आदि वैज्ञानिक आविष्कारों से भी पर्याप्त सहायता मिली है। लोगों की रुचि भी प्रतिदिन इस ओर बढ़ती जा रही है।

इस वैज्ञानिक प्रभाव से नाटकों का पुराना रंगमंच भी समाप्त हो चुका है और नाटकीय धारा भी प्रायः लुप्त-सी हो रही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एकांकी, युग की माँग और जनता की आवश्यकता को पूर्ण करती हैं। अतः एकांकी नाटकों की लोकप्रियता स्वतः सिद्ध है।

एकांकी विशेषताएँ

१. एकांकी में एक ही घटना प्रधान होती है। इसमें अनावश्यक घटनाओं के लिए स्थान नहीं होता।

२. इसमें कथावस्तु से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले पात्र भी प्रायः चार-पाँच से अधिक नहीं होते है। इसमें प्रधान पात्र का ही चरित्र-चित्रण मुख्य होता है।

३. मनोरंजन के लिए पात्रों की व्यर्थ कल्पना उसमें नहीं होती है।

४. इसमें घटनाओं का भी अनावश्यक विस्तार नहीं होता। चारित्रिक विकास, कली से विकसित पुष्प के समान ही होता है।

५. नाटक एक उद्यान के समान व्यापक है और एकांकी मेज पर रखे हुए गुलदस्ते के समान है।

६. एकांकी में एक अंक होता है और दृश्य अनेक होते है जो मुख्य कथा को अधिक सुन्दर बनाते हैं।

७. संकलन त्रय का पालन एकांकी में भी होना आवश्यक है।

आधुनिक और प्राचीन एकांकी में अन्तर

अधुनिक एकांकी के स्वरूप में तथा प्राचीन एकांकी में देखने पर पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इस अन्तर को ही एकांकी के महत्व की दृष्टि से इसका विकास कहा जा सकता है। निम्नलिखित कुछ प्रमुख अन्तर विशेष द्रष्टव्य हैं—

१. आज के एकांकी का आरम्भ प्रस्तावना, मंगलाचरण और नान्दीपाठ से नहीं होता। इसका आरम्भ और अन्त दोनों विशेष रूप से सुन्दर होते हैं। इसका आरम्भ वाद-विवाद, द्वार पर दस्तक, कालबैल की ध्वनि से, वार्तालाप अथवा गाने से होता है।

२. वैज्ञानिक युग के कारण रंगमंच के स्वरूप का विस्तार हो गया है। आज के युग में नाट्य वर्जनाएँ और रगमंच की सीमा की दृष्टि से जो सामग्री असम्भव थी वह सब संभव हो गई है।

३. आज एकांकियों में रंग निर्देशों का प्रयोग खुलकर किया जा रहा है। इससे चरित्र-चित्रण एवं परिस्थिति का समुचित ज्ञान पाठकों एवं दर्शकों को हो जाता है।

४. पात्रों एवं रसों का बन्धन आज एकांकी के लिए शिथिल पड़ गया है। देवता के स्थान पर मानव और अलौकिक के स्थान पर यथार्थ को स्थान मिला है।

५. आज यह मनोरंजन जनता के लिए है और जनता से संबंधित है। इसीलिए इसकी महत्ता सभी को अभीप्ट है।

६. चिन्तन और समस्या का आधार लेकर आज का एकांकी रंगमंच पर उपस्थित होता है; किन्तु विचारों की गुत्थियों को सुलझाना अथवा समस्या समाधान खोजना इसका कार्य नहीं। यह तो उन्हें उभार कर जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर अपने समाधान को उन्हीं पर छोड़ देता है।

आलोचना की दृष्टि से कुछेक उदाहरण

राजरानी सीता—इसके रचियता डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी एकांकी साहित्य के जन्मदाताओं में से एक है। उनका पहला नाटक 'बादल की मृत्यु' १९३० में लिखा गया। इनका रंगमंच से संबंध रहने से इसका यथेष्ट अनुभव रहा जिससे उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण है। इन्होंने रेडियो के लिए सफल एकांकी भी लिखे। नाटककार से पहले डा० वर्मा सुकोमल भावनाओं के कवि हैं। उनका यह एकांकी साहित्य अपनी पृथक् विशेपता रखता है। इसमे उनका कवि इसके संम्वादों में अनायास मुखरित हो गया है। काव्य सुलभ उपमाएँ और शब्दावली इसको मनमोहक सुन्दरता प्रदान करती है। संवाद चुस्त और चुटीले है। यह ऐसे एकांकियों का सुन्दर नमूना है जो रंगमंच और रेडियो

दोनो पर मेले जा सकते है। यद्यपि इनमे कार्यगति का अपेक्षाकृत अभाव है।

अशोक वन मे सीता सर्वदा राम का स्मरण करती है और रावण के स्थान पर राम की जय बोलती है। उनके विरह मे सीता शृंगार नही करती, शक्तिशाली रावण की बात अस्वीकार कर सीता कहती है कि बड़े-से-बड़ा जुगनू भी चन्द्रमा की समानता नही कर सकता। बड़ी-बड़ी सुन्दरियों ने रावण के बाहुबल पर मोहित हो आत्मसमर्पण कर दिया पर उनमे वैदेही नही थी। अपनी महारानी के शृंगार को छोड़ कर जो दृष्टि पर-नारी के शृंगार की ओर जाती है, वह अग्नि मे होम नही की ? सीता तृण लेकर रावण से विवाद करती है जो उसके उच्च कुल का द्योतक है। क्या वेदों का पाठ करने वाले पण्डित के ज्ञान की यह विडंबना नही है कि वह पर-स्त्री का अपमान करे ? रावण के तीव्र होने पर सीता कहती है, 'भिक्षा माग कर ससार के समस्त भिक्षुकों को लज्जित कर दिया, सूने आश्रम से हरण कर लाया और सन्यासी का वेश रख चोर बना, उसने भिक्षुकों का अपमान किया है।' रावण उसे चन्द्रहास से मारना चाहता है पर शंकर की अस्वीकृति से निपुड गीला हो गया। सीता को एक मास की अवधि मिल गई। हनुमान जी ने सीता को ढांढस दिया कि श्री राम जल्द उद्धार करेगे। काव्यात्मकता के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—"जब भगवान् राम के बाण तेरे सिरों को काट कर भगवान् के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है, तब वे बाण.........।"

अथवा

"जब शंभु सहित कैलाश पर्वत उठाया तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो आकाश रूपी नीले सरोवर में महाराज के हाथ रूपी कमल पर हंस शोभायमान हो रहा है। ऊँची भक्ति ही है।"

अथवा

"बूढे ब्रह्मा की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है जब सशक्ति देव मेरे वशीभूत तब नर की क्या शक्ति ?"

बीमार का इलाज—इसके रचियता उदशंकर भट्ट एकाकीकारो में अग्रणी है। यद्यपि भट्ट जी बडे नाटक लिखा करते थे पर उन्होने एकांकी का दामन नही छोडा। वर्मा जी के शब्दों मे, "भट्ट जी के एकाकियो मे मनोभाव सरलता से स्पष्ट हो जाते है। पात्रो के अनुरूप भाषा की दृष्टि मे वे सिद्धहस्त है, घटनाओ मे कौतूहल चाहे न हो, किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने मे भट्ट जी ने विशेष सफलता प्राप्त की है।" बीमार का इलाज इस कथन का प्रमाण है। कांति के मित्र विनोद जो सहपाठी होने के नाते मित्र भी थे, ग्राम-भ्रमण के लिए आगरे मे का

के पिता मि० चन्द्रकान्त, जो अंग्रेजी सभ्यता व उसी रहन-सहन के प्रेमी हैं, के घर आकर ही बीमार हो जाता है। इस जैसी अति साधारण घटना को लेकर भट्ट जी ने जिस सीधे-सादे ढंग से एक परिवार के विभिन्न प्राणियों, उनकी शिक्षा और संस्कारों का चित्रण किया है वह न केवल दिलचस्प और सुन्दर है वरन। यथार्थ भी है। डॉ० नानकचन्द का अन्तिम वाक्य जैसे हमारे ही अन्तर से निकला प्रतीत होता है और न व्यंग्य को तीखा करता है वरन् प्रहसन को सोद्देश्य भी बनाता है। इसकी हल्की-सी अति-रंजना इसकी यथार्थता को कम न करके बढ़ाती ही है। 'याद रखो, बड़ों की बात गाँठ बाँध लो—जब इलाज करो, ऐलोपैथिक डॉक्टर का। 'कड़वी भेषज बिन पिये, मिटै न तन को ताप।' ये बाल धूप में सफेद नहीं हुए है।' 'ये वैद्य-हकीम क्या जाने, हरड़-बहेड़ा और शर्बत शोरबे के पण्डित।' जमाना बड़ा खराब है, देवता ब्राह्मण और गौ पर तो जैसे श्रद्धा ही न रही।'

रेडियो एवं सिनेमा का प्रभाव

वर्तमान युग में लोकरंजन के साधनों में सिनेमा का स्थान सर्वोपरि है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा इसमें देशकाल के अनुसार जितना सुन्दर वातावरण उपस्थित किया जाता है उतना नाटकीय रंगमंच से अभिव्यक्त नहीं किया जासकता। अतः आज के एकांकी में नाटक लिखने से पूर्व अथवा दो दृश्यों के बीच में देशकाल का परिचय विस्तारपूर्वक दिया जाता है। इसके प्रचार से प्राचीन रंगमंच और नाटकीय धाराएँ लुप्त-प्रायः हो रही है।

यद्यपि सवाक् चलचित्रों की कला इस युग में विशेष मनोरंजन की सामग्री है। परन्तु इसमें जिस रुचि का प्रदर्शन होता है, उससे शिक्षित समाज चिन्तित है। "न्यूथियेटर्स" तथा "मिनर्वा प्रोडक्शन्स" के कुछ चित्रों को छोड़कर सभी चित्र मध्यम या निम्न कोटि के चित्र हैं। जिनसे सामाजिक पतन हो रहा है। सिनेमा को रोचक बनाने का एक साधन संगीत भी है परन्तु यह संगीत न केवल अशास्त्रीय है, प्रत्युत ये अधिक खटकते भी है। आवश्यकता है कि स्वतन्त्र भारत की सरकार अपने राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से असांस्कृतिक और नैतिक पतन की ओर ले जाने वाले दूषित चित्रों पर प्रतिरोध लगावे। यदि ऐसा न हुआ तो कुछ दिनों में यह पारसी ढंग के रंगमंचीय नाटकों के प्रतिनिधि हो जावेंगे और शुद्ध साहित्यिक नाटक एक अतीत की वस्तु ही रह जायगा।

इस समय नृत्य-प्रधान नाटकों का भी प्रचार हो रहा है। उदयशंकर तथा रामगोपाल जैसे विश्व-विख्यात नृत्य-कलाकार भारतीय प्राचीन नृत्य-कला की परम्परा का कलात्मक विकास कर रहे है। इनके द्वारा विदेशियों में भारतीय नाट्य-कला का

विकास हो रहा है तथा उससे वहाँ के कलाकार प्रभावित हो रहे हैं। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में प्रदर्शित नृत्य का पुनरुद्धार इन्होंने किया है।

वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से प्रकाश-किरणों के द्वारा अनेक रंगीन दृश्य अंगों के लययुक्त गीत के साथ अद्भुत दृश्य चित्ताकर्षक हो जाता है। क्षण-भर के लिए एक आनन्दमय लोक का अनुभव होने लगता है। इन सभी दृष्टिकोण से एकांकी के नाट्य-विधान में अनेक परिवर्तन हुए हैं। सिनेमा, रेडियो, उदयशंकर का नृत्य और छाया नाटक एवं साम्यवादियों का खुला थियेटर आदि के भाव इन एकांकी नाटकों मे दृष्टिगत होते हैं।

●

: ७ :

उपसंहार

नाटक को गद्य का योगदान

गद्य-साहित्य का विकास आधुनिक युग में खूब हुआ है, इसीलिए आधुनिक युग को अनेक विद्वान् दो भागों में विभक्त कर उसके दो नाम देना श्रेयस्कर समझते हैं। प्रथम चरण को 'काव्यात्मक प्रवृत्ति युग' और अन्तिम चरण को 'गद्य-विकास युग' नामों से अभिहित कर इस युग की सीमा का निर्धारण करना चाहते हैं। बात भी ठीक है, क्योंकि आधुनिक शब्द अपने निश्चित अर्थ से बिलकुल भिन्न अर्थ का व्यंजक आज बन गया है। वास्तव में आधुनिक कब तक आधुनिक बना रहेगा। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर विचारकों ने इस ओर कदम उठाने का श्लाघनीय कार्य आरम्भ किया है। इन दो चरणों का विभाजन अनेक आलोचकों को चाहे अधिक संगत न लगे, किन्तु यथार्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह किंचित भी अनर्गल प्रलाप नहीं। इस युग के प्रथम चरण में काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का प्रसार हुआ, उदाहरणार्थ छायावाद, प्रगतिवाद, राष्ट्रीयवाद, प्रयोगवाद आदि। इस चरण में जहाँ काव्य का बोल बाला रहा वहाँ गद्य के सूत्र भी अनेक रूप में स्फुटित हो रहे थे। इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं लेना चाहिए कि इस पूर्व चरण में गद्य की गति निर्जीव थी वरन् वह बाल्यावस्था में थी, जबकि काव्य अपने यौवन के विकास से सब को मोह रहा था।

आज जिसे हम हिन्दी कहते हैं वास्तव में वह खड़ीबोली है। काव्य में इसके प्रयोग के लिए बड़े संघर्ष चले। इससे पूर्व काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी जिसकी मधुरता, मृसणता और कोमलकान्त पदावली ने सैकड़ों वर्षों तक कवियों के मन पर ऐसा मोहन मंत्र फूंका कि वह उतारे नहीं उतरता था। खड़ी बोली के लिए अनेक प्रयोग और प्रयोगों से प्रयास और इन प्रयासों के कटु विश्लेषण (आलोचना) तथा इन विश्लेषणों में चाहे कितने ही शब्द पात या शब्दों और अर्थों कि शल्य क्रियाएं की गई हों किन्तु इन्होंने इसके स्वरूप का प्रसार निश्चय किया। ये प्रयोग गद्य में सबसे पहले किए गए। इस तरह से इस आधुनिक गद्य के विकास की पूर्व पीठिका तैयार की गई।

गद्य की अनेक विधाएँ हैं। किन्तु आरम्भ में प्रायः नाटक, उपन्यास और कहानी की विधाओं के अतिरिक्त आलोचना को भी महत्त्व मिला। उस समय की आलोचना चाहे आज की शास्त्रीय और व्यावहारिक आलोचना के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न हो, किन्तु उसी ने इस आधुनिक प्रणाली के स्वरूप का वरण किया। उस समय

की आलोचना व्यक्तिप्रधान होती थी ! अस्तु। हाँ, उपन्यास और कहानी ने तो उस काल मे पाठकों को अपने अद्भुत कथानक और रोचकता से ऐसा मोहित किया कि अनेक पाठकों ने हिन्दी भाषा सीखी और उन्हे उपन्यास पढ़ने का एक रोग ही लग गया। भूतनाथ, चन्द्रकांता आदि उपन्यास तो निश्चय ही गद्य साहित्य के लिए अच्छी पृष्ठ-भूमि तैयार कर सके। युग की मांग बढ़ी और इस वैज्ञानिक युग ने अनेक नवीन प्रणालियों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ निबन्ध-साहित्यिक, भाषा वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, आदि विविध विषयक, शास्त्रीय व्याख्या, रेखाचित्र, जीवनियाँ, पत्रिकाएँ, पत्र, व अनुवाद आदि इन सबने मिलकर गद्य-साहित्य के विकास मे पर्याप्त योगदान दिया है। अनेक लेखकों ने अपनी अभिरुचि के अनुसार अपने भावों का प्रकाशन किया।

यहाँ हमारा विवेच्य विषय हिन्दी गद्य-साहित्य में नाटक के योगदान पर विचार करना ही अभीष्ट है। वैसे नाटक की रचना भी आधुनिक काल के प्रथम चरण से आरम्भ हो गई थी। यह कार्य कोई नवीन न था वरन् एक प्राचीन परम्परा का उद्धार-मात्र था। संस्कृत-साहित्य की विलीन या विरल परम्परा के उद्धार की *भावना* हिन्दी के लेखकों और पाठकों दोनों के सम्मुख थी। बात अच्छी थी, मनोरंजन का एक अच्छा साधन था, परिणामस्वरूप कार्य करना आरम्भ हो गया। हिन्दी का पहला नाटक 'नहुष' कहा जाता है। यह नाटक भारतेन्दु की दृष्टि में लगभग १८५७ ई० की रचना है। वास्तव में यह नाटक पूर्ण रूप से नाटक नहीं, किन्तु उस धारा की आरम्भिक कड़ी अवश्य है। इस रूप में इसका महत्त्व विशेष है। नाटक का कर्णधार भारतेन्दु जी से होता है और वे ही उसके सच्चे प्रणेता हैं। इन्होंने संस्कृत रंगमंच का सैद्धान्तिक रूप अपनाकर उसे हिन्दीकरण कर दिया।

भारतेन्दु न एक कुशल नाटककार थे वरन् वे एक अभिनेता भी थे। यही कारण है कि उनके नाटक अधिकांश मे रंगमंचीय गुणों से परिपूर्ण है। स्वयं रंगमंच पर प्रस्तुत हो उन्होंने नाटककारो को जहाँ प्रोत्साहित किया वहाँ परोक्ष रूप से रंगमंच की कठिनाइयों से परिचय प्राप्त किया। हिन्दी के नाटककारों में यह दोष प्राय. पाया जाता है कि वे रंगमंचीय सिद्धान्तों से व्यवहार रूप मे अवगत नही होते। वे सिद्धान्त रूप में अवश्य उनको पचाने की कोशिश करते है। यही कारण है कि वे इस ओर रंगमंचीय अभिनयात्मकता की भूलभूलैया से पूरी तरह अवगत नही हो पाते, और नाटक जो दृश्य-काव्य है उसे पाठ्य बनाकर अपना श्रम-परिहार करते है। इसीलिए आज नाटक पाठ्य और दृश्य हो गए हैं। युग की माँग ने इस विभाजन पर ही विराम चिह्न नही दिया वरन् इसके एक अन्य वर्ग को जन्म दिया और वह था श्रव्य। यह

पूर्ण रूप से कर्णेन्द्रिय के माध्यम से हमारा प्रसादन करता है, जिसका रूप हमें नित्य आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से उपलब्ध होता है।

नाटकों ने अनेक प्रकार की सामग्री को हमारे सम्मुख उपस्थित किया। इसीलिए इनके अनेक वर्ग बन गए, जैसे ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, साम्यवादी, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक आदि। यह वर्ग विभाजन विषयानुकूल है। अर्थात् इन विभिन्न विचारों ने नाटक के माध्यम से गद्य के रूप को निखारा और विकसित किया। पश्चिम के सिद्धान्तों और प्रणालियों ने नाटक के स्वरूप में अनेक परिवर्तन उपस्थित किए। ये परिवर्तन युग की पुकार थी, जिन्हें सभी ने सुना और सभी ने देखा भी। इसतरह से नाटकों ने अपने महत्त्व की गाथा को गद्य के विकास के सूत्र से ऐसी शुभ घड़ी में गठबन्धित किया कि वह आज भी अटूट है।

आज के नाटक विचार-प्रधान बन गए है। उनमें तर्क, कुतर्क आदि पर नाटककार और पाठक या दृष्टा अधिक जोर देता है। यदि यह कहा जाए कि वे मनोरंजन के स्थान पर गम्भीर मनोरंजन उपस्थित करने में समर्थ दिखाई पड़ते है तो असंगत न होगा। वास्तव में प्राचीन मनोरंजन जो केवल मनोरंजन ही था आज बेढंगा न होकर शिष्ट और गम्भीर हो गया है।

आज भी नाटक की पर्याप्त प्रगति नही हो पाई। चलचित्रों ने अद्भुत आकर्षण प्रस्तुत कर नाटक को चौपट कर दिया है। इसके अतिरिक्त इसकी प्रगति के अभाव के दो कारण और भी हो सकते है—(१) नाट्य प्रतिभा की नैसर्गिक कमी और (२) साहित्यिक विनोद-प्रियता का अभाव। वास्तव में इन दोनों की मध्य वर्ती मनोवृत्ति नाटक के लिए आवश्यक है। फिर भी अपार नाटक-साहित्य ने जहाँ नाटककार को मानसिक तुष्टि व आत्म-सम्मान दिया वहाँ हिन्दी गद्य-साहित्य को अद्भुत और अनुपम श्रमदान दिया जिससे उसकी आत्मा सजीव और आकर्षक बनी रही। पाठको के लिए उसने मनोरंजन, उपदेश और चिन्तन प्रस्तुत किए।[1]

नाटक का भविष्य

संस्कृत की नाट्य परम्परा को हिन्दी नाट्य परम्परा ने अक्षुणता प्रदान की है। जिस साहित्यिक धारा का स्रोत-संस्कृत है तथा जिसका प्रसार एवं प्रचार उसी के माध्यम से हुआ, आज उसी भाषा में इस धारा का प्रवाह रुद्ध-सा हो गया है। इसका एक मात्र कारण इस भाषा से जनता का उतना मोह नहीं जितना उस युग में था। परिणामस्वरूप साहित्यकार लिखे तो किसके लिए जब कोई पढनेवाला ही नही। अतः पाठकों के अभाव ने या दूसरे शब्दों में इस भाषा की निरन्तर न्यूनता ने इस

१. नया साहित्य, नये प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० २२६

साहित्यिक धारा को ह्रासोन्मुखी कर दिया। ज्यों-ज्यों इनका ह्रास संस्कृत में हुआ त्यों-त्यों हिन्दी मे इनका प्रचार बढ़ गया और एक युग ऐसा आ गया कि हिन्दी में इसकी भीड़ लग गई।

वैज्ञानिक-युग में अनेक आविष्कारों का प्रलोभन मानव पर सवार हो गया। परिणामस्वरूप अनेक आविष्कार किए गए। प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति फैल गई। नवीनता के प्रति जनता की रुचि में आसक्ति हो गई। यह नवीनता साहित्यिक क्षेत्र में भी पदार्पण कर गई। काव्य मे अनेक वादों का आविर्भाव हुआ तो नाटकीय क्षेत्र में भी कुछ परिवर्तन अवश्य हुए। उदाहरणार्थ इनके विषय दैनिक जीवन की चर्याओ से सम्बन्धित नाटकों में स्थान पाने लगे। साथ-साथ नाट्य शास्त्र की प्राचीन विधा से भी लोगों की श्रद्धा उठ गई। आज वे नियम वर्जनाएँ केवल शृंखला-मात्र प्रतीत होने लगीं और उनके अस्तित्व को नष्ट करने के लिए आज का साहित्यकार छटपटाने लगा। क्रान्ति उठी, विरोध हुआ और सफलता भी मिली।

आज नाटक समस्या-प्रधान बन गए। यथार्थ की प्रमुखता उनमें मुखरित हो उठी। वर्जनाओं का खुलकर प्रयोग होने लगा। नाटक दृश्य के स्थान पर श्रव्य बन गए। अभिनय और संकलन त्रय की उपेक्षा की गई।

समय का आज के जीवन में बहुत मूल्य है। कोई भी व्यक्ति घंटों बैठकर मनोरंजन का आनन्द नही ले सकता। अतएव मनोरंजन के उस रूप का अनुसंधान किया गया। जिससे मनोरंजन तो अवश्य हो किन्तु समय में बचत हो और यह एकांकी नाटक थे जिनका आविर्भाव प्रेषकों की रुचि के अनुकूल हुआ। इसमें एक अंक होता है और उसके कुछ दृश्य होते है। इसके स्वरूप की लघुता में मनोरंजन की प्रचुरता है।

इधर कुछ गीति-नाट्यों का भी आविर्भाव सहृदयों की संगीत में विशेष रुचि होने के कारण हुआ। इन नाटकों का प्रदर्शन रेडियो पर विशेष सफल रहा है। फलस्वरूप इन्ही नाटकों ने रेडियो रंगमंच को प्रधानता दी और आज के नाटक रंगमंच के विचार से चाहे न लिखे जाय किन्तु रेडियो रंगमंच के उद्देश्य से अवश्य लिखे जाते हैं। अतएव आज आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है।

रेडियो रंगमंच पर एक व्यक्ति ही अनेक पात्रों का अभिनय (रोल) आवाज़ को बदलकर कर लेता है। जिसके कारण 'मोनो एक्टिंग' की धारा को प्रोत्साहन मिला फलस्वरूप आज रंगमंच पर मोनो एक्टिंग प्रायः प्रस्तुत की जाती है।

निष्कर्ष यह निकला कि मनोरंजन के प्रसादन जनता की रुचि के अनुकूल

रेहो रहे हैं। समय का मूल्य आज के वैज्ञानिक युग में बढ़ गया है। इसी कारण समय की न्यूनता ने मनोरंजन के स्वरूप में भी लघुता का प्रादुर्भाव किया। अतः आज केवल नाटक के एक भाग का प्रदर्शन ही प्रेषकों को वांछनीय है। किन्तु इसकी लघुता में इसकी सम्पूर्णता प्रतिष्ठित करने का श्लाघनीय प्रयत्न कम महत्वपूर्ण नहीं। अतः नाटक-साहित्य का भविष्य आज भी उज्ज्वल है। सिनेमा के अस्तित्व के कारण इसमें जो क्षीणता आ गई है वह इसके महत्त्व एवं उपादेयता का ज्ञान कराती है। आज भी बड़े-बड़े नगरों में विभिन्न नाट्य केन्द्र है जहाँ हजारों व्यक्तियों को अभिनय-कला से ज्ञान दिया जाता है। इन बातों के आधार पर हम आश्वस्त कंठ से कह सकते है कि नाटक का भविष्य उज्ज्वलोन्मुखी है।

परिशिष्ट—१

सम्पूर्ण नाटक-साहित्य एक दृष्टि में

आरंभ काल—(सन् १६४३—१८६६ ई०)

काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाटक दृश्य-काव्य का एक भेद है। अतः इसमें यह विशेषता है कि यह साहित्यिक होने के अतिरिक्त रंगमंच की भी वस्तु है। हिन्दी नाटकों का आरम्भ रंगमंच से नहीं नाटकीय काव्यों से हुआ है जिनमें हनुमन्नाटक और समयसार प्रसिद्ध हैं इस काल के नाटक दो रूपों में मिलते हैं—(१) साहित्यिक और (२) रंगमंचीय रूप में।

साहित्यिक नाटकों में 'प्रबोध चन्द्रोदय' अनुवादित और 'आनन्द रघुनन्दन' मौलिक हैं। इनमें संस्कृत काव्य शैली के अनुसार कविता अधिक है। रंगमंचीय नाटकों में अमानत द्वारा लिखित 'इन्दर सभा' है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता तथा उर्दू भाषा की प्रचुरता है। रंगमंच की दृष्टि से यह सर्वप्रिय नाटक था। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के लिए रासलीला, रामलीला तथा स्वांग का भी प्रचार था।

भारतेन्दु से पूर्व नाटकों के अभाव के कारण पर दृष्टि डालने से यह सिद्ध होता है कि अन्य विद्वानों ने जो अभाव के कारण दिए हैं। वे ठीक हैं। यवनों के राज्य काल में अन्य कलाओं के विकास को देखते हुए नाटक के अभाव का उपयुक्त कारण यह नहीं हो सकता। अतः यह समझना चाहिए कि नाटक लिखने के लिए जिस संघर्षमय और गतिशील जीवन की आवश्यकता है तथा व्यक्तित्वहीन चित्रण का होना जो नाटक-रचना के लिए अनिवार्य है उसका उस काल में अभाव था।

विकास काल—(सन् १८६७—१८८५ ई०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही देश की राजनीतिक और सामाजिक दशा भी बदल चुकी थी। बंगला-साहित्य पश्चिमी-साहित्य से प्रभावित हो रहा था और उसमें नवीनता का आरम्भ हो चुका था। लगभग इसी समय हिन्दी साहित्य-गगन में भारतेन्दु का उदय हुआ। भारतेन्दु के नाटक मौलिक, अनुवादित, रूपान्तरित और प्रहसन के रूप में मिलते हैं।

१. मौलिक नाटकों में नीलदेवी, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा आदि हैं।
२. अनुवादित नाटकों में मुद्राराक्षस, पाखण्ड-विडम्बना आदि हैं।

३. रूपान्तरित रचनाओं में सत्यहरिश्चन्द्र और विद्यासुन्दर हैं।

४. प्रहसन वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, अन्धेरनगरी हैं।

भारतेन्दु के नाटकों में संस्कृत-नाट्य शैलियों के कुछ मौलिक परिवर्तन मिलते हैं। इन्होंने रंगमंच के अनुकूल नाटकों की रचना की। पद्य के स्थान में गद्य को प्रतिष्ठापित किया। संस्कृत के विरुद्ध दुःखान्त नाटकों को भी जन्म दिया। गीतिकाव्य की सृष्टि की। नाटक कम्पनियों की स्थापना करके स्वयं भी आपने अभिनय कर अन्य नाटककारों की रुचि में संवर्द्धन एवं परिष्कार किया। अन्य लेखकों को भी अपने व्यक्तित्व तथा धन की सहायता से साहित्य-रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। अतः आप नाटक-साहित्य के जन्मदाता हैं।

भारतेन्दु के समकालीन—(सन् १८८६—१६०४ ई०)

स्वतन्त्रता की भावना, तत्कालीन राजनीतिक वातावरण और सामाजिक दशा तथा नवीन विचारधारा का प्रसार एवं कांग्रेस की स्थापना आदि विषयों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु के व्यक्तित्व की छाप छप चुकी थी। अतः तत्कालीन लेखक भी उन्हीं विचारों को लेकर नाटक-क्षेत्र में आए। मौलिक, अनुवादित, रूपान्तरित और प्रहसन नाटकों की रचनाओं का ढेर लग गया।

मौलिक नाटकों की अनेक धाराएँ हैं—

१. **पौराणिक धारा**—राम सम्बन्धी नाटकों में शीतलाप्रसाद कृत रामचरितावली, कृष्णसम्बन्धी नाटकों में शिवनन्दन सहाय कृत कृष्ण-सुदामा तथा अन्य आख्यानात्मक नाटकों में शालिग्राम कृत मोरध्वज आदि प्रसिद्ध हैं।

२. **ऐतिहासिक धारा**—इस धारा में राधाकृष्णदास का महाराणाप्रताप नाटक प्रसिद्ध है।

३. **देशप्रेम धारा**—इसमें प्रेमघन जी के भारत सौभाग्य आदि नाटक प्रसिद्ध हैं।

४. **समस्या-प्रधान धारा**—इस में उपदेशात्मक नाटकों की प्रधानता है। सामाजिक समस्याओं को लेकर गोरक्षा, गोवध निषेध आदि नाटक लिखे गये।

५. **प्रेम-प्रधान धारा**—इसमें श्रीनिवासदास का रणधीर प्रेममोहिनी अधिक प्रसिद्ध हैं।

६. **प्रतीकवादी रचनाओं**—गोस्वामी किशोरीलाल कृत नाट्य संभव उत्तम है।

७. **प्रहसनों**—भारतेन्दु की ही शैली को लेकर प्रहसन नाटक लिखे गये। किन्तुउनमें उच्चकोटि का व्यंग्य नहीं मिलता है। राधाचरण के प्रहसन कुछ अच्छे हैं।

८. **अनुवादों**—संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों के भावात्मक अनुवाद लिखे गये। संस्कृत के 'उत्तररामचरित' 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि

नाटकों के अनुवाद हुए। जिनमें लाला सीताराम के अनुवाद अच्छे हैं।

बंगला के नाटकों के अनुवाद तथा कुछ नाटकों के रूपान्तर भी हुए। शिवनन्दन त्रिपाठी का 'सिराजुद्दौला' उत्तम रचना है। केशवराम भट्ट के 'सज्जाद संबुल और शमशाव सौसम' अच्छे रूपान्तर हैं।

अंग्रेजी नाटकों के अनुवादों में शेक्सपीयर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' के अनुवाद किए गए। इसके अतिरिक्त गोपीनाथ जी ने अंग्रेजी के कई नाटकों के अनुवाद किए।

इस काल मे कथा, पात्र, संवाद, नृत्य, संगीत आदि सभी कुछ नाटकीय तत्व उन्नत रूप में मिलते है। केवल चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटकों के पात्रों में विकास कम है। लेखकों का नाटकों में अधिक व्यक्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

संधिकाल (सन् १९०५—१९५१ ई०)

प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा नवीन पश्चिमीय सभ्यता के मेल में संधियुग का आरम्भ हुआ था। यह भारतेन्दु तथा प्रसाद युग के बीच की कड़ी है। इस काल में साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों में भी एकता स्थापित हुई। अतः इसे संधिकाल कहते है। यद्यपि नाटकीय रचना की दृष्टि से इस काल का कोई मत्त्हव नहीं है, किन्तु इससे भविष्य काल के नाटक-निर्माण में एक प्रेरणा मिलती है।

साहित्यिक युग—इस काल में राजनीतिक संघर्ष अधिक बल पकड़ रहा था। वंग-भंग तथा सरकार की दमन नीति आदि स्वतन्त्रता का देश में व्यापक आन्दोलन आरम्भ हो गया था। द्विवेदी जी के प्रभाव से हिन्दी साहित्य प्रभावित हो चला था। राष्ट्रवादी साहित्य का जन्म हो चुका था तथा पश्चिम का भी प्रभाव साहित्य पर अंकित हो चुका था। इसी काल में भारतेन्दु द्वारा प्रचारित नाटकीय धाराओं को लेकर नाटक प्रचुर मात्रा में लिखे गए। इस काल की मुख्य निम्नलिखित धाराएँ हैं—मौलिक, अनुवादित, रूपान्तरित और प्रहसन।

मौलिक—इसमें चार धाराएँ मुख्य है।

१. **पौराणिक धारा**—इसमें गंगाप्रसाद का 'रामाभिषेक', रामनारायण मिश्र का "कंस-वध" और अन्य आख्यात्मक नाटकों में प्रसाद जी का 'करुणालय' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ है।

२. **ऐतिहासिक धारा**—इसमें बद्रीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' और 'तुलसीदास' मुख्य नाटक है।

३. **समस्या प्रधान धारा**—इसमें भगवतीप्रसाद का 'वृद्ध-विवाह' और मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' नाटक उत्तम हैं।

४. **प्रेमप्रधान धारा**—इसमे 'रूपवती' और 'कामिनी कुसुम' आदि कई नाटक

लिखे गये किन्तु कलात्मक दृष्ट से कोई उत्तम नहीं है।

अनुवाद धारा—इसमें संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद मिलते हैं। कविरत्न का 'उत्तर रामचरित', ला० सीताराम का 'मृच्छकटिक' और 'नागानन्द' आदि प्रसिद्ध नाटक हैं। बंगला और अंग्रेजी के भी कई अनुवादित नाटक मिलते हैं। रूपान्तरित धारा में भी भट्ट जी का 'कूरवन दहन' नाटक सर्वोत्तम हैं।

प्रहसन धारा—इसमें भी भट्ट जी का 'चुंगी की उम्मीदवारी' लोकप्रिय प्रहसन है।

रंगमंचीय नाटक युग (सन् १८६२—१६२३ ई०)

इस समय में रंगमंचीय नाटकों की दो प्रकार की कम्पनियाँ थीं—(१) व्यवसायी, (२) अव्यवसायी।

व्यवसायी—व्यवसायी कम्पनियाँ केवल धनोपार्जन के लिए नाटकों का अभिनय करती थी। साहित्यिक प्रचार उनका उद्देश्य नहीं था एवं उपदेशात्मक ये कम्पनियाँ स्थायी रूप से कहीं नहीं थी। उनका चलता-फिरता रूप था। इनके पास अपने अनेक नाटककार थे जो कम्पिनियों के अनुकूल नाटक लिखते थे। नाटकों का विषय धार्मिक ही रहता था। संगीत की प्रधानता थी। नाटक की मूलकथा के साथ एक प्रहसन भी रहता था।

पारसी व्यवसायी कम्पनियाँ मुख्य पाँच थीं—(१) ओरिजनल थियेटर कम्पनी (२) विक्टोरिया थि० कं० (३) अल्फ्रेड थि० क० (४) न्यू अल्फ्रेड थि० कं० (५) अलेक्जेड्रिया थि० कं०।

अन्य व्यवसायी मंडलियों में गुजरात की 'सूर्यविजय' नाटक मण्डली और मेरठ की 'व्याकुल' मण्डली प्रसिद्ध थीं। व्याकुल जी ने शुद्ध साहित्यिक नाटकों के अभिनय में प्रशंसनीय कार्य किया है।

अव्यवसायी—मंडलियों का उद्देश्य शुद्ध साहित्यिक हिन्दी नाटकों का अभिनय करना था। इनमें एक विद्यार्थी रंगमंच था जो स्कूल या कालिजों में होता था। इस रंगमंच पर किसी विशेष उत्सव पर विद्यार्थियों के द्वारा नाटकों का अभिनय होता था। दूसरे रूप में भी चार नाटक मंडलियाँ थीं—(१) माधव शुक्ल द्वारा स्थापित 'श्री रामलीला नाटक मंडली या हिन्दी नाट्य समिति, (२) नागरी नाटक कला प्रवर्तन मण्डली, (३) भारतेन्दु नाटक मण्डली, (४) हिन्दी नाट्य परिषद्।

इनके द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों को लेकर नेताओं का संदेश जनता तक पहुँचने में बड़ी सहायता मिली। इसके अतिरिक्त माखनलाल 'चतुर्वेदी' और 'मिलिन्द' के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से उत्तम हैं तथा रंगमंच के विकास में उनसे सहायता मिली है।

नवीन काल : प्रसाद युग (सन् १९१५—१९४२ ई०)

जयशंकर प्रसाद—सन् १९१६ मे लखनऊ मे कॉग्रेस का अधिवेशन, गांधीजी का असहयोग आन्दोलन तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा हिन्दी का प्रोत्साहन आदि तत्कालीन परिस्थितियो के बीच प्रसाद जी हिन्दी नाटक-साहित्य के क्षेत्र मे नवीन युग को लेकर अवतरित हुए। इन्होंने संधि युगो की ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर अनेक नाटक लिखे। जिनमे प्रारम्भ के 'सज्जन' आदि चार एकाकी नाटक है। उसके बाद विशाख, चन्द्रगुप्त आदि अनेक गवेषणापूर्ण नाटको की रचना की।

इनके साथ ही 'एक घूंट' समस्या प्रधान तथा 'कामना' साकेतिक शैलियो मे लिखा।

प्रसाद के नाटको की विशेषताएँ यह है—(क) भारतीय प्रेम (ग) ऐतिहासिकता, (ग) अन्तर्द्वन्द तथा वाह्यसघर्ष (घ) चरित्र-चित्रण (ङ) करुणा (च) नारी-प्रतिष्ठा, (छ) गीतो मे कवित्व, (ज) सुखान्त भावना, (झ) मौलिक तथा एक निश्चित शैली, (ट) अखड राष्ट्रीयता, (ठ) शैव दर्शन। (ड) वैज्ञानिक तथ्य (ढ) सस्कृतनिष्ठ भाषा आदि।

प्रसाद के समकालीन

प्रसाद के समकालीन नाटककारो ने नाटकीय परम्पराओ को सुरक्षित रखा। मौलिक नाटको मे पाँच धाराएँ मिलती है।

१. पौराणिक धारा मे रामकृष्ण सम्बन्धी नाटकों के अतिरिक्त अन्य आख्यानात्मक नाटक भी लिखे गए, जिनमे सुदर्शन का 'अजना' प्रसिद्ध है।

२. ऐतिहासिक धारा मे मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', पाण्डेय बेचन शर्मा-'उग्र' का 'महात्मा ईसा' आदि नाटक उल्लेखनीय है।

३. समस्या-प्रधान धारा मे लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक सर्वोच्च है। नारी-समस्या तथा जातीय और व्यक्तिगत समस्याओ को लेकर लिखे गए नाटको मे 'सन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' आदि प्रधान है।

४. प्रेम-प्रधान धारा मे व्रजनन्दन सहाय का 'उपागिनी' प्रसिद्ध है।

५. राष्ट्रीय धारा मे प्रेमचन्द की 'सग्राम' आदि रचनाएँ है।

अनुवादों मे कालीदास के सस्कृत नाटको का अग्रेजी के शेक्सपीयर तथा बगला के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको का अनुवाद हुआ।

रूपान्तरित धारा मे जी० पी० श्रीवास्तव के फ्रासीसी लेखक मोलियर के रूपान्तरित नाटक प्रसिद्ध हैं।

प्रहसनों मे सुदर्शन जी का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' तथा हरिशङ्कर उपाध्याय का

'कौंसिल की मेम्बरी' आदि में राजनीतिक स्थिति का चित्रण करने का हास्य चित्र उत्तम है।

प्रसादोत्तर युग (सन् १९३३—१९४२ ई०)

इस समय देश-प्रेम और स्वतंत्रता के आन्दोलन से जातीय विकास और उसकी रक्षा की भावना की प्रेरणा मिल चुकी थी। परन्तु सन् १९३३ के गांधी-इरविन समझौते के कारण राजनीतिक आन्दोलन ठण्डा पड़ गया। गत महायुद्ध के बाद नवनिर्मित पश्चिमीय साहित्य के बुद्धिवाद और उपयोगितावाद का प्रभाव भारतीय साहित्य में भी झलकने लगा। वैयक्तिक और सामाजिक अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इब्सन के नाटकों का प्रभाव पश्चिमी नाटकों पर पड़ा। बर्नार्डशॉ, जॉनगाल्सवर्दी आदि अनेक नाटककारों की रचनाओं में विचारों की क्रांति और भावुकता के स्थान पर समस्याओं को मुख्य स्थान मिला। व्यक्ति और समाज, स्त्री और पुरुषों की स्वतन्त्रता और अधिकार की व्याख्या की गई। उसका प्रभाव हिन्दी नाटककारों पर भी प्रत्यक्ष है।

अतः इस काल के नटाकों की मुख्य चार धाराएँ हैं—

१. **पौराणिक धारा** में राम और कृष्ण सम्बन्धी नाटकों में सेठ गविन्ददास का 'कर्त्तव्य' के दोनों भाग उल्लेखनीय हैं।

२. **ऐतिहासिक धारा** में हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक सर्वोत्तम है। सेठ गोविन्द दास के नाटकों में नवीन ऐतिहासिक दृष्टिकोण मिलता है।

३. **प्रतीक धारा** में सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्स्ना' नाटक प्रसिद्ध है।

४. **समस्या प्रधान** धारा में सेठ गोविन्ददास का 'सेवापथ', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'सिन्दूर की होली' आदि प्रसिद्ध है।

एकांकी

एकांकी नाटकों का जन्म संस्कृत एकांकी से हुआ है और उसका विकास अंग्रेजी एकांकी नाटकों से माना जाता है। संस्कृतके 'भाण' के आधार पर भारतेन्दु ने सबसे पहले हिन्दी में एकांकी को जन्म दिया। संस्कृत के एकांकियों में पात्र रस आदि के नियम विस्तारपूर्वक दिये गए है। अंग्रेजी एकांकियों में विषय, प्रभाव और वातावरण की एकता को अधिक आवश्यक माना गया है।

एकांकियों में पांच अवस्थायें हैं—उद्घाटन, टिकाव, विकास, चरमोत्कर्ष और अन्त। वास्तव में चरमोत्कर्ष ही एकांकी का अन्त होता है। एकांकी में किसी एक घटना की प्रमुखता के साथ अन्य घटनाओं का योग भी होता है। किन्तु समस्या नाटक में प्रमुख नायक या नायिका का अभाव होता है। सभी पात्रों पर नाटककार का ध्यान होता है

अतः नायक का प्रश्न समस्या नाटक में उठना उचित इसलिए भी नहीं है कि इनके लेखक नाट्य शास्त्र के बन्धनों का सर्वथा त्याग करते हैं।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से एकांकी नाटक चार युगों में विभक्त है। पहले युग में भारतेन्दु और राधाचरण आदि के एकांकी हैं। दूसरे में प्रसाद का 'एक घूंट' तीसरे युग में भुवनेश्वरप्रसाद के नाटक और चौथे युग में डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास आदि के एकांकी उल्लेखनीय हैं।

एकांकी नाटकों के प्रचार मे सिनेमा और रेडियो से बड़ी सहायता मिली है। यद्यपि सिनेमा ने रंगमंच का स्थान ले लिया है, फिर भी रंगमंच का महत्त्व अब भी अधिक है। उदयशंकर, विष्णुप्रभाकर, रामचन्द्र तिवारी, रामगोपाल आदि कलाकारों द्वारा भारतीय संस्कृति और रंगमंच को पुनर्जीवित किया जा रहा है।

इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दी नाटक-साहित्य विकासोन्मुख है और रहेगा।

परिशिष्ट—२

सम्पूर्ण नाटक-साहित्य का चार्ट

१. हिन्दी नाटकों का आरम्भिक काल

(सन् १६४३ से १८६६ ई० तक)
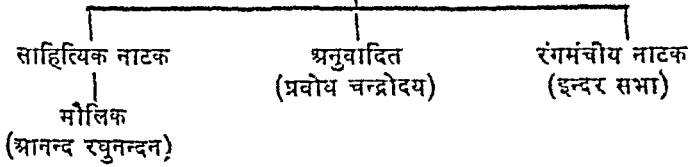
२. हिन्दी नाटकों का विकास काल

भारतेन्दु काल

(सन् १८६७ से १८८५ ई० तक)

- मौलिक (भारत-दुर्दशा, प्रेमजोगिनी आदि)
- अनुवादित
  - (मुद्राराक्षस विद्यासुन्दर आदि)
- रूपांतरित (सत्यहरिश्चन्द्र आदि)
- प्रहसन (अन्धेर नगरी आदि)
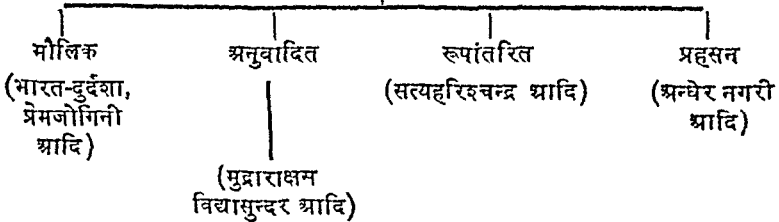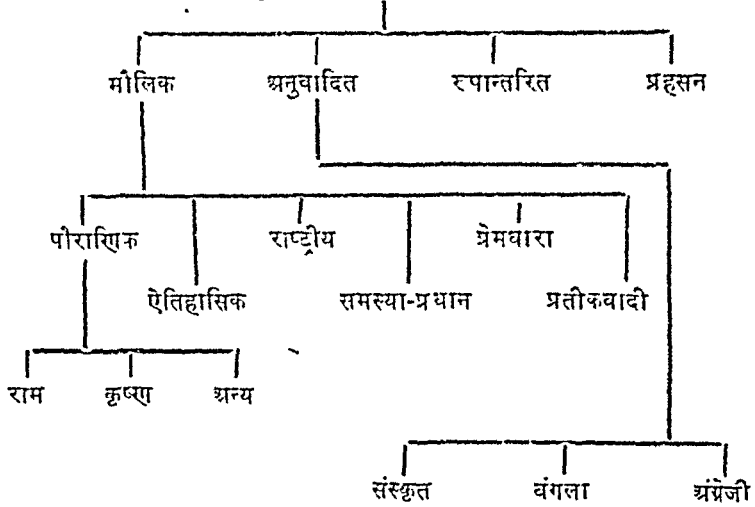
३. भारतेन्दु के समकालीन नाटकों का विकास
मौलिक
अनुवादित
रूपान्तरित
प्रहसन
पौराणिक
ऐतिहासिक
राष्ट्रीय
समस्या-प्रधान
प्रेमधारा
प्रतीकवादी
राम
कृष्ण
अन्य
संस्कृत
बंगला
अंग्रेजी
४. सन्धिकाल के नाटक
(सन् १९०५ से १९५१ ई० तक)
साहित्यिक युग
मौलिक
रूपान्तरित
अनुवादित
प्रहसन
पौराणिक
ऐतिहासिक
समस्या-प्रधान
प्रेमप्रधान
राम
कृष्ण
अन्य
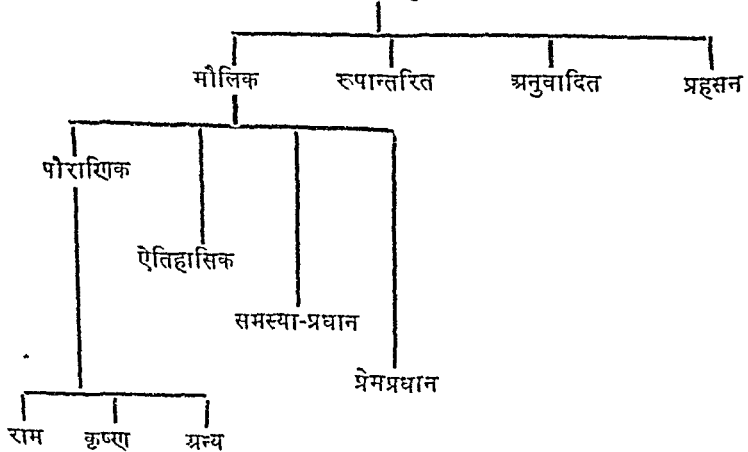
५. सन्धिकाल के रंगमंचीय नाटक

(सन् १८६२—१९२३ ई०)
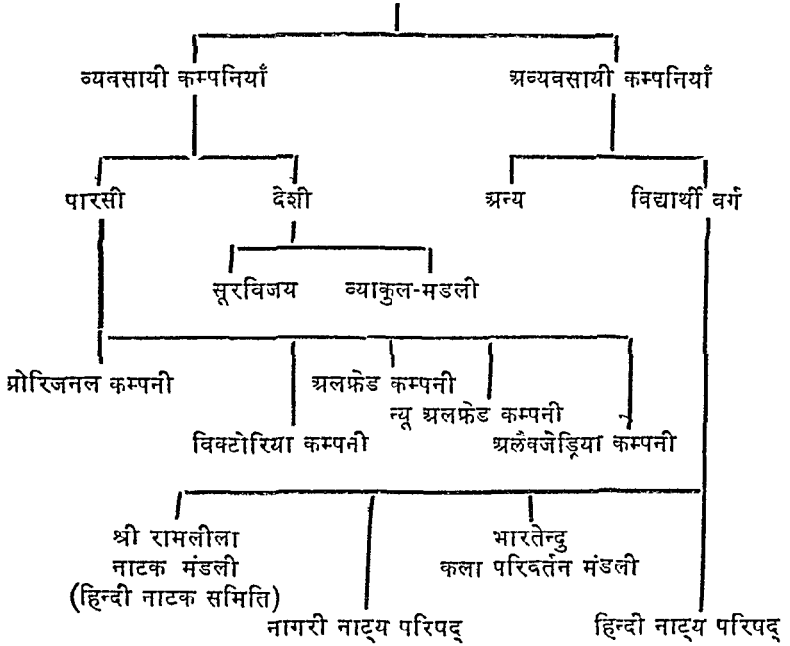
६. नवीन काल : प्रसाद युग के नाटक

क—जयशङ्कर प्रसाद

ऐतिहासिक — सांकेतिक — समस्या-प्रधान

ख—प्रसाद के समकालीन

- मौलिक
  - पौराणिक धारा
    - राम
    - कृष्ण
    - अन्य
  - ऐतिहासिक धारा
  - राष्ट्रीय धारा
  - समस्या-प्रधान धारा
  - प्रेम-प्रधान धारा
- अनुवादित
  - संस्कृत
  - बङ्गला
  - अंग्रेजी
- प्रहसन
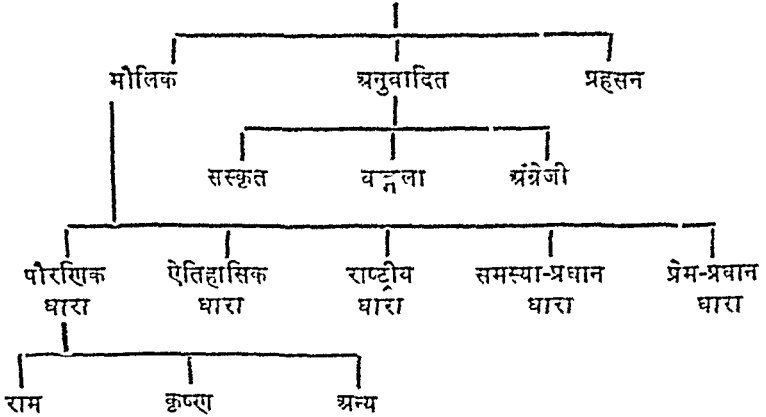
७. प्रसादोत्तर युग के नाटक
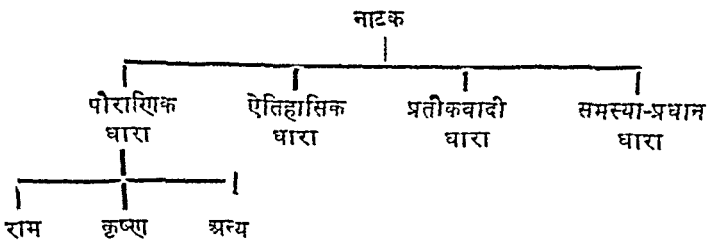
८. एकांकी नाटक का विकास
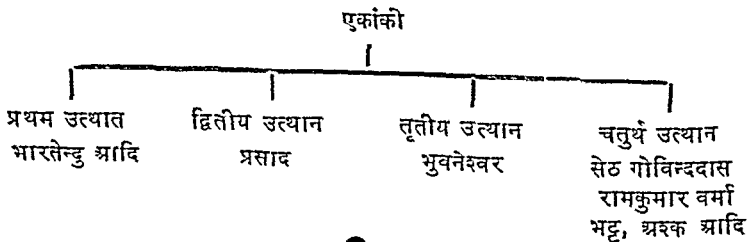
परिशिष्ट—३

सहायक पुस्तकों की सूची

हिन्दी

१.	हिन्दी नाटक	...	डा० बच्चनसिंह
२.	नाट्य समीक्षा	...	डा० दशरथ ओझा
३.	हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास		डा० दशरथ ओझा
४	आधुनिक हिन्दी नाटक	...	डा० नगेन्द्र
५.	भारतीय नाट्य शास्त्र	...	डा० नगेन्द्र
६.	भारतेन्दु-ग्रन्थावली	...	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
७.	भारतीय नाट्य शास्त्र	...	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
८.	हिन्दी दशरूपक	...	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
९.	हिन्दी नाट्य विमर्श	...	डा० गुलाबराय
१०.	हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास		डा० गुलाबराय
११.	हिन्दी नाटक	...	जयनाथ मिश्र
१२.	नाटक की परख	...	एस. पी. खत्री
१३.	हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार		डा० रामचरण महेन्द्र
१४.	हमारी नाट्य परम्परा	...	श्रीकृष्णदास
१५.	अभिनव नाट्य शास्त्र	...	सीताराम
१६.	समीक्षा शास्त्र	...	सीताराम
१७.	हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास		डा० सोमनाथ गुप्त
१८.	हमारी नाट्य परम्परा	...	दिनेश्वर नारायण उपाध्याय
१९.	हिन्दी नाट्य परम्परा का आलोचनात्मक अध्ययन		वेदपाल खन्ना
२०.	हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव		श्रीपाल शर्मा
२१.	हिन्दी नाट्य साहित्य	(२ भाग)	ब्रजरत्न दास
२२.	हिन्दी के पौराणिक नाटक	...	डा० देवर्षि सनाढ्य
२३.	लोकधर्मी नाट्य परम्परा	...	डा० श्याम परमार

२४. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा	रामगोपालसिंह चौहान
२५. हमारे नाटककार ...	राजेन्द्रसिंह गौड़
२६. हिन्दी नाटक का विकास ...	शिवनाथ एम. ए.
२७. हिन्दी नाटककार ...	प्रो० जयनाथ नलिन
२८. नाटक कला एवं साहित्य की रूपरेखा	शिखरचन्द जैन
२९. हिन्दी नाट्य चिन्तन ...	शिखरचन्द जैन
३०. हिन्दी के तीन प्रमुख नाटककार	शिखरचन्द जैन
३१. नाट्य पद्धति द्वारा शिक्षण ...	चन्द्रशेखर भट्ट
३२. व्रज की रासलीला ...	शर्मनलाल अग्रवाल
३३. सन्तुलन ...	प्रभाकर माचवे
३४. आधुनिक हिन्दी नाटक ...	उदयशंकर भट्ट
३५. भारतीय नाट्य कला के मूल तत्व	आचार्य ललिताप्रसाद शुक्ल
३६. हिन्दी नाटक ...	प्रो० अमरनाथ गुप्त
३७. नाट्य कला ...	रघुवंश
३८. रेडियो नाटक शिल्प ...	सिद्धनाथ कुमार
३९. भारतेन्दु का नाट्य साहित्य ...	डा० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल
४०. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली	व्रजरत्न दास
४१. भारतेन्दु युग ...	रामविलास सामग्री
४२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ...	डा० रामविलास शर्मा
४३. भारतेन्दु साहित्य ...	रामगोपालसिंह चौहान
४४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ...	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४५. मध्यकालीन नाट्य परम्परा और भारतेन्दु	कुवंर चन्द्रप्रकाशसिंह
४६. भारतेन्दु कालीन नाट्य साहित्य	गोपीनाथ तिवारी
४७. पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य...	डा० सोमनाथ
४८. आँध्र हिन्दी रूपक ...	पाडुरंग राव
४९. जयशंकर प्रसाद और स्कंदगुप्त	राजेश्वरप्रसाद
५०. प्रसाद की कला ...	डा० गुलाबराय
५१. प्रसाद के नाटक ...	रामरतन भटनागर
५२. प्रसाद के नाटक ...	किशोरीलाल गुप्त
५३. प्रसाद और उनका साहित्य ...	विनोदशंकर व्यास

५४. जयशंकर प्रसाद ... नन्ददुलारे वाजपेयी
५५. चन्द्रगुप्त के विशिष्ट स्थलों की शास्त्रीय व्याख्या शैलेन्द्र ठाकुर
५६. जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त डा० शम्भूनाथ
५७. चन्द्रगुप्त-समीक्षा ... भारतभूषण 'सरोज'
५८. चन्द्रगुप्त ... फूलचन्द पाण्डेय
५९. चन्द्रगुप्त एक अध्ययन ... डा० प्रेमनारायण
६०. स्कंदगुप्त एक अध्ययन ... डा० प्रेमनारायण
६१. प्रसाद का चन्द्रगुप्त ... कृष्णकुमार सिन्हा
६२. प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक डा० राजेश्वर प्रसाद
६३. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन डा० जगन्नाथ शर्मा
६४. प्रसाद के नाटकीय पात्र ... डा० जगदीशनारायण
६५. प्रसाद के नाटक ... परमेश्वरीलाल गुप्त
६६. प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक... जगदीशप्रसाद जोशी
६७. प्रसाद की नाट्य कला ... रामकृष्ण शुक्ल
६८. हिन्दी में समस्या नाटक ... गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव
६९. लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक उमेश मिश्र
७०. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ डा० नगेन्द्र

अंग्रेजी

1. The Sanskrit Dramas (*Keith*)
2. Theory of Drama (*A. Nicoll*)
3. World Drama (*A. Nicoll*)
4. British Drama (*A. Nicoll*)
5. Art of Drama (*Bentilley and Millet*)
6. Aspect of Modern Drama (*F. W. Chander*)
7. The Sanskrit Drama in origin, development, theory and practice (*Dr. A. B. Keith*)
8. Drama and Dramatic of Non-European Rev. (*W. Ridge Way*)
9. Play Making (*William Archer*)

10. Dramatic Values (*C. E. Montague*)
11. Dramatic and Technique (*G. P. Barker*)
12. Bengali Drama (*Guha Thakurata*)
13. The Enjoyment of Drama (*Milton Marx*)
14. Indian Theatre (*Horrivitz*)
15. The Indian Stage (*Dr H. N. Gupta*)
16. The Theatre of Hindus (*H. H. Wilson*)
17. Poetry & Drama (*T. S. Eliot*)
18. The Construction of One Act Play (*Percival Wilds*)
19. Chief Faults in Writing One Act Plays (*Walter Prichard*)
20. The Technique of the Experimental One Act Plays (*Sunday Box*)
21. The Construction of the Social One Act Plays (*Michael Blankfort*)
22. The One Act Play of the Radio (*Val Gielgud*)
23. ,, ,, ,, ,, and Films (*Isaac Gold Berg*)
24. ,, ,, ,, ,, in the College Theatre (*Barker*)
25. The One Act Play and Television (*Gilvert Seldes*)
26. ,, ,, ,, ,, in the Church (*Fred Eastman*)
27. Where does the One Act Play Belong (*Clark*)
28. The One Act Play in the United States (*Glenn Hushus*)
20. The One Act Play in the England (*John Bourne*)

पत्र-पत्रिकाएँ

१. साहित्य-सन्देश ... आगरा
२. आलोचना ... दिल्ली
३. सरस्वती संवाद ... आगरा
४. समालोचक ——— ———
५. सम्मेलन पत्रिका
६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका.